: प्रकाशक :
राजेन्द्रकुमार जैन, 'विशारद'
व्यवस्थापक
नरेन्द्र साहित्य-कुटीर
मोतीमहल दीतवारिया
इन्दौर

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९३८
द्वितीय संस्करण
जून १९४९
मूल्य
२।)

—:—

: मुद्रक :
शिवराजसिंह,
सुभाष प्रिन्टिंग प्रेस,
इन्दौर।

स्वर्गीय नरेन्द्र

तेरी ही स्मृति के पवित्र अनुष्ठान में

शिखरचन्द

[प्रथम संस्करण की भूमिका से]

दूसरे की ओर से

....मैं इन्दौर आया। मानसिक तथा आर्थिक संघर्षों के वे दिन! इतनी बड़ी नगरी में एकाकी। तभी किसीने बतलाया शिखरचदजी मास्टर। कैसे हम मिल गये, आज इतने दिन बाद मैं नही बतला सकता।

मास्टर मेरे इतने निकट हैं कि उनके बारे में मेरी कोई राय पक्षपात पूर्ण समझी जा सकती है। भावुक दीन-दुनिया से बेखबर, Inferiority complex और उपेक्षित; कहीं गहरे तल में सेवा और साधना की आग: यह है मास्टर का विश्लेषण। मैंने देखा इस आदमी ने बहुत खोया है और इसे सदा वंचित रहना पड़ा है। चलते चलते वह रुक गया है; सोचने लगा—अरे मैं रुक क्यों गया? और फिर चल पड़ा है। बाधाएं ही इसे सदा मिलीं कभी थक गया, कभी निराश हो गया और कभी न जानें कहा से कोई सम्बल पा बढ़ चला है।....

इस निबन्ध का भी हाल बहुत कुछ लेखक जैसा ही है। आज से सात-आठ बरस पहले यह लिखा गया था। तभी पढ़ा गया, सुना गया, देखा गया और प्रशंसित भी हुआ! सम्मेलन परीक्षाओं के विद्यार्थी इससे लाभ उठाते रहे; काश निबंध बोल सकता, बतलाता कि कितना उपेक्षित उसे होना पड़ा है। कभी सुना-प्रकाशित होने जा रहा है, और यह कहीं छिपकर खोकर ऐसा बैठा कि बैठ ही गया।

आज यह छपकर प्रकाशित हो रहा है। निर्णय पाठकों पर निर्भर है। इतना तो मैं कहूंगा ही कि सम्मेलन-परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा।

काशी भीगा सावन, ६५   श्यामू सन्यासी

सूर : एक अध्ययन

हिन्दी के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं की आलोचनाएँ

महाकवि सूर के लिए तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। हिन्दी की वृहत्त्रयी तुलसी, सूर, कबीर में उनका अत्यन्त आदरणीय स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध भी सूर के ऊपर एक पढ़ने लायक चीज है। पढ़कर पाठक सूर की कविता और भावना, उनकी ऐतिहासिक महत्ता और आध्यात्मिक गुरुता को और भी निकट से देखने और समझने का अधिकारी हो जाता है। सुयोग्य लेखक ने हिन्दी के महान् मर्मी कवि पर बड़ी ही मेहनत और लगन से चिन्तन किया है। भाषा में गति और भाव विन्यास है। शैली रोचक और विषय के अनुरूप ही गम्भीर है। पढ़कर पाठक सूर के बारे में बहुत-सी बातें जान सकता है। सम्मेलन-परीक्षाओं के छात्रों के लिए तो यह विशेष रूप से उपयोगी है।

'हंस', काशी

हिन्दी में आलोचनात्मक पुस्तकों का अभाव है जो हैं, उनमें अधिकांश दरिद्र असफल। ऐसी हालत में 'सूर : एक अध्ययन' जैसी मननशील पुस्तक का (हालाँकि छोटी है) प्रकाशन सचमुच प्रशंसनीय है। इसमें लेखक ने महाकवि सूरदास की रचनाओं पर अपने विवेचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। ऐसा करते समय उन्होंने अपनी बातों को जहाँ तक हो सका, स्पष्ट, सरल और विद्यार्थियों के योग्य बनाने का सफल प्रयत्न किया है। यों तो हम ऐसे विषय पर अधिकाधिक बातें सुनने और जानने को इच्छुक रहते हैं, किन्तु यह पुस्तक इतने ही में पूर्ण समझी जायगी, ऐसा हमारा ख्याल है। सारी पुस्तक पढ़ जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने बहुत कम विषय छोड़े हैं, जिन पर वह विचार नहीं कर सका है। हम ऐसी पुस्तक का स्वागत

करते हैं।

मासिक 'विश्वमित्र' कलकत्ता।

हमारे यहा आलोचनात्मक साहित्य की अभी बड़ी भारी कमी है। और फिर अनेक हिन्दी-प्रेमी तो प्राचीन कवियो की ओर ध्यान तक नही देते। श्री शिखरचन्दजी जैन 'साहित्य रत्न' ने सूर पर एक निबन्ध लिखकर इसी कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है।

सबसे पहले लेखक ने सूर के ऐतिहासिक स्थान को स्पष्ट करने की चेष्टा है। हिन्दी की उत्पत्ति, उस समय की राजनैतिक अवस्था, सूर के पहले की धार्मिक स्थिति, रामानुज और उनका वैष्णव सम्प्रदाय, कबीर और विद्यापति का सूर पर प्रभाव—इन सभी का सूक्ष्म विवरण लेखक ने दिया है। इसके पश्चात अनेक दृष्टि-कोणो से सूर साहित्य पर विचार किया है। सूर पर कोई भी आलोचना उनके सगीत-ज्ञान पर विचार किये बिना अधूरी है। लेखक ने गीति काव्य के इस आव-श्यक स्तम्भ पर भी उचित प्रकाश डाला है। इसके बाद सूर-सारावलि, साहित्य लहरी और सूरसागर का निरूपण आता है। सूर की शैली और रसो का भी सम्यक् अध्ययन किया है। अन्त में सूर की भक्ति पर प्रकाश डालते हुए, लेखक ने निवन्ध समाप्त किया है।

पुस्तक का सुन्दर प्रबन्ध हमें मौलिकता की शिकायत का अवसर नही देता। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की भ्रमरगीत-सार की भूमिका के पश्चात सूर पर आलोचना के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि श्री शिखर-चन्द जैन ही पर जाती है।

'सम्मेलन-पत्रिका', प्रयाग।

हिन्दी मे सूरदास के सम्बन्ध में आलोचनात्मक ग्रन्थो का अभाव है। इस ग्रन्थ में लेखक ने सूरदास तथा उनके साहित्य के सम्बन्ध में एक अध्ययनपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध लिखा है। लेखक ने सूरदास के सम्बन्ध में लिखने के पूर्व सूर के पहले की राजनैतिक, धार्मिक, सामा-जिक और साहित्यिक अवस्था पर भी सक्षेप में प्रकाश डाला है। सूर-

दास की कला पर सक्षेप में अच्छा विवेचन किया गया है। सगीत को लेकर सूर के सम्बन्ध में जो चर्चा की गई है, वह पर्याप्त नही। लेखक का कहना है कि तुलसीदास पर सूरदास का प्रभाव पडा था, परन्तु हमें यह बात ठीक नही जान पडती। लेखक महोदय स्वय तुलसी की प्रतिभा को सूर से अधिक उत्कृष्ट समझते हैं। लेखक का यह कथन है कि मीरा ने कृष्ण की उपासना पति-रूप में की, परन्तु मीरा में परकीया के गुण किस सीमा तक थे, इस पर आपने प्रकाश नही डाला। मतिराम, रसखान, रत्नाकर, हरिऔध के सम्बन्ध में लेखक ने सूर का जो प्रभाव बताया है, उससे हम सहमत नही। मतिराम की भाषा सूर की भाषा से अधिक उत्कृष्ट और रसखान का हृदय सूर की भाति ही प्रेम में सराबोर जान पडता था, परन्तु उनकी उक्तियो मे अपनापन है विशेषता है। रत्नाकर और हरिऔध ने भी इस युग के अनुरूप अपने विचार रखे हैं।

सूर के वात्सल्य वर्णन पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। बाल लीला पर भी विस्तृत आलोचना है। सूर के विप्रलम्भ शृगार के सबध मे भी लेखक ने काफी विचार किया है। पुस्तक में लेखक ने कई स्थलो पर काव्य-शास्त्र की प्राचीन परिपाटी से अच्छी तरह से विचार किया है फिर भी आलोचना को शास्त्रो के जाल से बचाने की काफी चेष्टा की गई है। स्थान-स्थान पर लेखक ने उदाहरण भी अच्छे दिये हैं, पुस्तक मध्यमा तथा साहित्यरत्न के विद्यार्थियो के काम की है।

'वीणा', इन्दौर।

सूर: एक अध्ययन

मुस्लिम आक्रमण को हिन्दी का बीज-वपन एव पृथ्वीराज के पतन को हिन्दी विकास का प्रारम्भ हम साधारणतया मान सकते है। क्योकि सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिन्ध पर मुसल्मानो के आक्रमण होने लगते है। लगभग इसी समय पुष्य अथवा पुंड् नामक किसी कवि का होना पाया जाता है तथा पृथ्वीराज के पतन पर महाकवि चन्दवरदाई

हिन्दी-भाषा का बीज-वपन-काल

इसी समय 'पृथ्वीराज रासो' लिखना आरम्भ करते हैं। यो चाहे हिन्दी भाषा का प्रारम्भ सातवी शताब्दी के बजाय ग्यारहवीं से माना जाय; किन्तु यह मानने में कोई हानि नही है कि हिन्दी का बीज-वपन अवश्य सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हो चुका था। हिंदी-भाषा की वह गर्भावस्था थी। उस समय काल के गर्भ में ही उसके अंग-प्रत्यग पुष्ट हो रहे थे। गर्भावस्था में किसी शिशु की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती। केवल अनुमान, अनुभव और ज्ञान द्वारा ही उसका परिचय

प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी भाषा के लिये कोई भी ऐसा निश्चित समय निर्धारित नही किया जा सकता, जहा से उसका प्रारम्भ माना जा सके। किसी एक पूर्व भाषा का रूप विकृत हो जाता है और नयी भाषा की रूप-रेखा उसी विकृतावस्था मे से उद्गत होती जाती है। शनै शनै. एक धारा के समान जब वह पार्वतीय विषम मार्ग समाप्त कर चुकती है, तब मैदान पर उसका उद्गम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। अतएव सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी का बीज-वपन-काल मानना अनुचित नही है और ग्यारहवी शताब्दी से हिन्दी-भाषा के विकास का प्रारम्भ मानना तो निश्चित ही है।

हर्षवर्धन ही अन्तिम हिन्दू सम्राट् अथवा चक्रवर्ती महाराजा थे जिनका आधिपत्य समस्त उत्तरापथ पर था। उनके निधन से समस्त भारत मे एक प्रकार का अराजकता फैल गई। उनके पश्चात कोई भी सार्वभौमिक हिन्दू सम्राट् न हुआ। महमूद गजनवी के आक्रमण के पहिले केवल राजपूत राजागण ही छिन्न भिन्न रूप मे उत्तर भारत का राज्य सचालन कर रहे थे। उनमे भी फूट पूर्ण-रूप से व्याप्त थी। वे छोटे छोटे राज्यो मे ही नही बटे थे, किन्तु पारस्परिक कलह ही मे अपना गौरव समझते थे। अपने पूर्वजो के समान न तो धार्मिक भाव ही प्रधान था और न राजनीति ही मे उनकी कुछ विशेष गति थी। ऐसा मालूम पडता है कि इस समय के थे राजागण राजनीति के सूक्ष्म तत्त्वो एव व्यावहारिक राजनीति की चालो से ही पूर्ण अनभिज्ञ न थे, प्रत्युत वे राजनीति के क, ख, ग को भी भुला चुके थे। वे अपना एक मात्र धर्म केवल समय-समय पर जैसे कन्या हरण, विवाह, शरणागत रक्षा आदि के अवसरो पर शौर्य-प्रदर्शन ही समझते थे। इसका फल यह हुआ कि जहाँ उनमे आत्मबल, शक्ति, त्याग एव प्राण-समर्पण की

सूर के पहिले की राजनैतिक अवस्था

भावनाओ की प्रबलता होनी चाहिये थी। वह सगठन के अभाव, दुराग्रह, अपनी राजनैतिक चालो एव कूटनीति की अनभिज्ञता के कारण से पारस्परिक कलह मे दत्तचित्त हो अपनी शक्तियो को शनै शनैः क्षीण कर रहे थे। परिणामत जो हिन्दू जाति हूण, कुशान सदृश बर्बर जातियो को आत्मसात कर सकी, वह क्षणिक धार्मिक आवेग से मदोन्मत्त मुस्लिम आक्रमणकारियो का सामना करने मे असमर्थ रही। जीवन का इस समय नितान्त अभाव हो रहा था। नारियो ने जौहर मे प्राण विसर्जन कर अपने गौरव की रक्षा की पर वे पुरुषो की सूखी नसो में उष्ण रक्त प्रवाहित न कर सकी, क्योकि उन्हे मुक्ति-मार्ग का कटक समझा जाता रहा था-और वे स्वय भी अपनी सत्ता का अनुभव नही कर सकती थी। तत्कालीन जनता मे कूप-मडूकता की भी कमी नही थी। ऋषि-मुनियो के देश मे अज्ञानाधकार का साम्राज्य था। इस समय तक भारतीयो ने अपनी विस्तृत चारदीवारी के बाहर जाना कम कर दिया था और फलत उनमे जो जीवन से युद्ध करने की अपनी सस्कृति, सभ्यता एव ज्ञान-दान देने की क्षमता थी, उसका ह्रास हो गया था। इन्ही कारणो से इस्लाम के धर्मान्ध कट्टर अनुयायी भारतीयो को सरलता पूर्वक पादाक्रात कर सके। तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि इस नैराश्य-पूर्ण समय मे भी कही-कही आशा की किरण दिखाई पड जाती थी। अन्धकार मे भी क्षीण प्रकाश मार्ग प्रदर्शित करता रहा और इसी आधार पर हिन्दू-जाति, सस्कृति एव साहित्य की रक्षा हो सकी।

इस समय जनता के दुख-सुख का किसी को ध्यान नही था। दुधारी गाय के समान उसे जो शासक चाहता दुह लेता। फिर इस समय मुसलमान शासक यहाँ पर नये-नये ही आये थे। न तो वे यहा की आतरिक परिस्थिति से परिचित थे और न युद्धादि से उन्हे इतना अव-

काश ही था कि वे उस पर ध्यान ही दे सकते। जगह-जगह कुशासन फैला हुआ था। मुस्लिम आक्रमणकारियो से सुदूर के प्रान्त अवश्य कुछ काल तक रक्षित रहे। दक्षिण कुछ समय तक उनकी पहुँच के बाहर रहा; पर अलाउद्दीन के समय से उस पर भी आक्रमण किये जाने लगे। सम्राट हर्ष के निधन से भारत की जो दशा बिगड़ी, वह मुस्लिम आगमन से भी नही सुधरी, प्रत्युत उत्तरोत्तर अधिकाधिक बिगडती ही गई। मुसलमानो के आक्रमण से पहिले भारतीय राजा तथा प्रजा में साहस, ओज, आत्मबलिदान की भावनाएँ, शक्ति, युद्ध-प्रियता और महत्त्वाकाक्षाएँ थी। प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार की उत्कट अभिलाषाएँ थी। किन्तु मुस्लिम राज्य-स्थापन के पश्चात् तो ये सद्गुण एक-एक करके काफूर हो गये। पहिले तो ये जातीय गुण थे, बाद में केवल वैयक्तिक सद्गुण ही रह गये। भारत में राष्ट्र थे, किन्तु प्राण नही, जीवन नही। मुहम्मदगोरी की विजय के समय पृथ्वीराज ही एक अकेला वीर नही था, अकबर की राजस्थान-विजय के समय केवल प्रताप ही एक वीर नही था। वीरता थी; जातीयता और विजय-कामना नहीं, वैराग्य था। आत्मबल का अभाव था। धीरे-धीरे निराशा अपना घर बनाती गई; राजाओ ने गुलामी ही को अपना मुक्तिमार्ग समझा।

उधर जनता-जनार्दन भी शक्तिहीन हो चले। उनमें से भगवदश उठ गया था। उन पर भी मुस्लिम आगमन का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ग्राम पचायतो का सुख भोगनेवाली सीमित एकतन्त्री शासन (Limited monarchy) को स्थापित करने वाली वीर जाति की कोई बात पूछने वाला भी न था। जो जाति, जो ब्राह्मण विद्वान राजनीतिज्ञ वेणु को पदच्युत कर सके, वे मुस्लिम शासन की जड हिलाने में असमर्थ रहे। इसमे जितना दोष मुस्लिम आक्रमणकारियो का है, उतना ही भारतीयो की निर्बलता का भी। वे क्यो नतमस्तक हो गये?

क्यों पराधीनता का जुआ अपने कन्धों पर धारण कर लिया ? अत्याचार किया तो उस अत्याचार को सहा क्यों ? सामूहिक रूप से क्यों अपने अधिकारों के लिये नहीं लड़े ? ऐसी भीषण परिस्थिति में हिन्दी का विकास प्रारम्भ और प्रभावित हुआ।

ब्राह्मण विद्वान, त्यागशील, मनस्वी एवं चिन्तनशील अवश्य थे, किन्तु उनमें उद्धतपन, आत्मगौरव-प्रवञ्चना, अत्यन्त हिंसावादिता, कटुता, कर्मकाण्डता, एवं अपनी समझ में किसी को कुछ न समझना, आदि दुर्गुण भी थे। बौद्धधर्म के उद्भव का यही कारण था। सम्राट हर्ष के निधन तक बौद्धधर्म चढ़कर गिर चुका था और अपनी अन्तिम साँसे

सूर के पहिले की धार्मिक परिस्थिति

ले रहा था। महात्मा बुद्ध के सिद्धांत अति उच्च थे। उनका व्यक्तित्व महान् था। वह व्यवहार्य भी था, किन्तु उसके अन्तिम काल में उसके सूत्र विद्वानों के हाथों में नहीं रह थे। उनमें तपस्या ही का भाव अधिक रह गया था। बौद्ध भिक्षु साधारणतया ज्ञान प्राप्त कर कुछ बौद्ध धर्म का अध्ययन कर ही अपने को बड़ा समझने लगे थे जैसा कि आजकल के साधुओं में देखा जाता है। इसका साधारण जन-समाज पर इसी लिए प्रभाव भी खूब पड़ा, किन्तु साधारण जन-समुदाय राम-कृष्ण को नहीं भूला था और जब फिर से ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा हुई जनता उस ओर झुकी। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद के सिद्धांतों को भी प्रश्रय मिल गया था; किन्तु जनता का आधार उसकी रक्षा करनेवाला, उसे सुख-शांति देनेवाला, और दुःख में धैर्य्य बँधानेवाला केवल ईश्वरवाद का सिद्धांत ही है। चाहे हम ईश्वर का अस्तित्व न मानें, वह केवल कोरी कल्पना ही क्यों न हो; किन्तु साधारण जनता विद्वान नहीं होती, उतनी ज्ञान-सम्पन्न भी नहीं हो सकती; अतएव उसके हृदय में सद्गुणों और साहस को प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर को मानना अत्यन्त

आवश्यक है। फिर तात्कालिक ब्राह्मण विद्वानो ने बुद्ध को भी एक अवतार मानकर हिन्दू धर्म मे मिला लिया। बौद्धो के समान अत्युक्ति-पूर्ण पुराणो की रचना कर डाली। जनता को और क्या चाहिये था? महात्मा बुद्ध मे पूज्य भाव होते हुए भी हिन्दू-धर्म का पालन किया जा सकता था। इधर कुमारिल भट्ट और शकराचार्य के तर्कों के सामने बौद्ध धर्म न ठहर सका। केवल विदेशो मे ही उसे प्रश्रय मिल सका, क्योकि उसके सिद्धान्त विदेशियो को नवीन मालूम हुए। भारत तो इन सिद्धातो को भली भाँति हृदयगम कर चुका था और उन्हें चरम सीमा तक पहुँचा भी चुका था।

ब्राह्मण विद्वान ईश्वर के अस्तित्व व वेदो में ईश्वरीय ज्ञान के न माने जाने से बहुत दुखी थे। अतएव कुमारिल भट्ट ने 'वेदो मे ईश्वरीय ज्ञान है' का उपदेश दिया। उसने यज्ञ मे हिसा करना उचित ठहराया और इस प्रकार प्राचीन बातो का फिर से प्रचार किया, किन्तु जनता इसके लिए तैयार न थी और इसलिए उसके विचारो का स्वागत कुछ अधिक न हो सका। उस समय जनता शकर को चाहती थी, उनके सिद्धान्तो को चाहती थी। अतएव उसने शकर को उत्पन्न किया। कुमारिल भट्टने शकर का कुछ मार्ग परिष्कृत कर ही दिया था। शकर सन् ७८८ ई० मे कुमारिल भट्ट के कुछ बाद ही पैदा हुए थे। शकर ने पूर्ण अद्वैतवाद के सिद्धात का, जो वेदोक्त था एव बौद्ध मतावलम्बियो को भी अमान्य न था प्रचार किया। इसीलिए वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये। उन्होने आत्मा और परमात्मा को एक ही माना। उनका कहना था कि यह जगत मिथ्या है। इस तरह उनके सिद्धातो का बौद्ध धर्म से भी कुछ साम्य था। वे ब्रह्म और वेदो को अमर मानते हैं। इसी समय बौद्धो के २४ बुद्धो, जैनो के २४ तीर्थंकरो के समान २४ अवतारो की भी कल्पना कर साम्य स्थापित कर लिया गया।

इसके पश्चात् दो-तीन शताब्दियो तक इन विचारो का प्राबल्य रहा और समस्त भारत में शकर के अद्वैतवाद की प्रधानता रही। बारहवी शताब्दी में फिर रामानुज ने विशिष्टाद्वैत एव माध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया। रामानुज जीवात्मा, जगत और ब्रह्म को एक ही मानते हे। जीवात्मा और जगत ब्रह्म से ही निकले है किंतु पृथक होकर, विशिष्ट गुणो से समन्वित होकर ये कार्य-रूप में पृथक-पृथक होते है। माध्वाचार्य जीव, प्रकृतिऔर ईश्वर को भिन्न भिन्न मानते है।

इस समय तक मुसलमानो का न तो राजनीतिक और न धार्मिक ही कोई प्रभाव पडा था। किन्तु इसके पश्चात् भारतीय साहित्य, कला, सस्कृति एव धर्म पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी थे। उनमे सब बातें एकही थी। एक खुदा; खुदा का एक पुत्र; मुसलमान-मुसलमान सब एक। शाति और विग्रह मे सब समय एकता उनकी नीति, न्याय और धर्म था। उनमें न कोई जाति थी, न कोई पथ। प्रारंभ में जबकि वे आये तब कोई दूसरा भाव था। धीरे-धीरे वह भाव बदलने लगा। अब, सम्पत्ति हरण कर अपने देश को लौट जाने का भाव न था। इस समय तक वे अगणित हिन्दुओ को इस्लाम के झण्डे के नीचे ला चुके थे। कई हिन्दू स्त्रियो से विवाह कर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगे। एक दूसरा आपस मे मिलने लगा। लडाई-झगडे का भाव धीरे-धीरे नष्ट होने लगा। उन्हें अब यह अनुभव होने लगा कि जब हमे यही स्थायी रूप से रहना है, तब हिन्दुओ से मेल किये बिना सुख और और आनद की प्राप्ति नही हो सकती। इधर हिन्दू लोग अभी तक उन्हें लुटेरे और विदेशी समझते थे; परन्तु उन्हे यहा उन्होनेबसने देख विरोधकरना छोडदिया। फिर भी उनकी प्रकृति,

उनका धर्म, उनका आचार-विचार अभी तक नही मिला था। दोनों जातिया शान्ति और सुख-पूर्वक रहें इसलिए इस बात की आवश्यकता थी कि दोनो का मेल-जोल बढ़े। दोनो आपस में एक दूसरे के सहायक न हो तो न सही, पर कम से कम विरोधक तो न बने। उधर मुसलमान हिंसावादी थे, और इधर हिन्दू अहिंसाप्रिय। उनको अपनी शक्ति, सत्ता और कूटनीति पर विश्वास था, तो इनको अपने पूर्व गौरव, संस्कृति, उच्च विचार एव सिद्धातो और दर्शन का अभिमान था। राजा और प्रजा चाहे न मिल पावे, पर प्रजा-प्रजा कैसे बिना मिल रह सकती है। ऐसे समय में सत्कवियो एव महात्माओ ने अमृतवाणी की वर्षा कर अपने सदुपदेशो से भारत को ऐसा आप्लावित किया और ऐसा अमर प्रभाव उत्पन्न किया कि आज तक उसी की गूँज हमारे हृदयो मे गूँज रही है।

रामानुज स्वामी ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित करके जो बीज बोया था, स्वामी रामानन्द ने उसे अपनी उदारता, गहनता एव विद्वत्ता से इतना अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित किया कि उनके पश्चात् कबीर, नानक, दादू, रैदास, भीका साहब आदि अनेक महात्मा हुए। इन सबमे कबीर का स्थान सर्व श्रेष्ठ है। बाद के महात्माओ में से अधिकांश ने उन्ही का अनुकरण किया। कुछ थोड़े थोड़े परिवर्तन के पश्चात इन्ही की शिक्षा, उपदेश और सिद्धातो को ग्रहण किया। इन सब सन्त कवियो में जो सूर के पहिले एव कबीर के पश्चात हुए, कबीर की ही छाप अंकित दिखाई देती है। यद्यपि देश के कोने-कोने से इन महात्माओ का उद्भव हुआ। कबीर साहब के पहिले, जैसा हम पहिले देख आये हैं, हिन्दू-जाति निराशा के गर्त में पूर्ण-रूप से जा चुकी थी। उनमे शारीरिक शक्ति का किसी प्रकार अभाव नही था। उनमें व्यक्तिगत साहस था। भिन्न भिन्न रूप से उनके प्रयत्न भी विदेशी आक्रमको

को देश से बाहर करने के लिये हुए। फिर भी वे अपनी आँखो के सामने अपने धर्म का जिसे हिन्दू-जाति क्या प्रत्येक जाति प्राणो से प्यारा समझती है अपनी पूज्य मूर्तियो का अपमान देखते थे तो उन्हे अपने ऊपर बडी ग्लानि होती थी। ऐसे नैराश्य-पूर्ण एव आत्म विस्मृति के समय कबीर आदि महात्माओ ने निर्गुण भक्ति का संदेश भारत को देकर भारत का बडा उपकार किया है। यह सत्य है कि निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियातीत है, पर उसका अस्तित्व मानना ही मुर्दा जाति को जीवनदान दान देना था। कबीर में बड़ी उच्चकोटि की प्रतिभा थी, यद्यपि वे पढे लिखे न थे। उनमे उच्चकोटि की लगन, जाति-हित प्रेरणा, मानव-प्राणी मात्र की भलाई की कामना थी, चाहे उनके शब्दो के ओज एव तीव्रता में हमे कुछ कटुता मिले। वे वेद उपनिषद् नही पढ सकते थे। वे वेदागो में पारंगत विद्वान नही थे। उन्होने साख्य-मीमासा के ग्रथ नही पढे थे, किन्तु इनके तत्वो एव सिद्धातो से वे अनभिज्ञ नही थे। उन्होने बड़े बडे विद्वानों, साधु-महात्माओ का ससर्ग किया था। वे बहुश्रुत थे। सत्य ही उनका व्यवसाय था। सुकार्य ही उनका भोजन था। कबीर ने हिन्दू मुसलमानो दोनो के ही दोषो का उद्घाटन किया है। उन्होने रचनात्मक नही, प्रत्युत खडनात्मक मार्ग ग्रहण किया था। रचनात्मक कार्य तो आगे जाकर सूफी कवियो जायसी, सूर और तुलसी द्वारा होने वाला था और हुआ। प्रारभ मे खडनात्मक कार्य ही शुरू किया जाता है। जब हम किसी पुरानी इमारत के स्थान पर कोई नवीन भवन का निर्माण करते हैं, तब हमें पहले उस पुरानी इमारत को नष्ट करना ही पडता है। कबीर के पहिले हिन्दू-समाज का भवन जो हजारो वर्ष का पुराना हो गया था, वह समय-समय पर कुछ स्तम्भ लगा, कुछ बल्लियाँ लगा, सुधारकर या कई प्रकार के टेके लगाकर रहने योग्य बना लिया गया था। हिन्दू-समाज की दशा उस समय भिखारी की गुदडी के

समान थी। ऐसी अवस्था में कबीर के जैसी आत्मा ऐसे भवन में रहना स्वीकार कैसे कर सकती थी? उसने उस प्राचीन भवन को जितनी शीघ्रता से हो सके, गिराना आरम्भ किया। वह कभी पूर्व की दीवाल गिराती, कभी पश्चिम की। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के बाह्य आडम्बर की तीव्र निन्दा की थी। मुसलमानों के रोजा, नमाज़ आदि की एवं हिन्दुओं के जप, तप, माला आदि की। उन्होंने केवल आत्मिक सत्य ज्ञान की ही प्रधानता बतलाई। इनकी इस कटुता के परिहार का थोड़ा प्रयत्न प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने किया; किन्तु समाज पर उनका इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कबीर आदि संत कवियों का। यद्यपि संत कवियों से प्रेम-मार्गी सूफी कवियों में साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार कबीर ने अपने खरे-तीखे उपदेशों से सूर और तुलसी के सगुण भक्ति के मार्ग की काट-छाँट कर उसे परिष्कृत कर दिया। यद्यपि प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिये सब बातें अलौकिक रहती हैं, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि कबीर की प्रतिभा के आधार से उठकर वह सगुणोपासना चरम कोटि (Climax) पर पहुँचा दी गई, जहाँ से कि हिन्दी-साहित्य का ढलाव प्रारम्भ हुआ। हाँ यह अवश्य था कि अपने-अपने समय में एवं अपने-अपने क्षेत्र में सूर और तुलसी की प्रतिभाएँ उच्चतम थीं।

खेत में जब बीज बोया जाता है, तब तत्काल ही उसके अंकुर नहीं निकल आते हैं। वह भूमि के अन्दर रचता-पचता है और एक समय तक हमें दिखाई नहीं देता है। उसी प्रकार हिन्दी-भाषा का बीजारोपण

सूर के पहिले हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया था, किंतु तीन-चार शताब्दी तक हमें उसका कुछ रूप दिखाई नहीं दिया। पर आरम्भ में वर्षा हो जाने के पश्चात् जैसे उसके अस्पष्ट

अकुर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार बारहवीं शताब्दी मे हिन्दी-भाषा के स्पष्ट अकुर हमे दुबे पचोली जानकीदास एव दुबे पचोली हुंडमराय के परवानो मे दिखाई देते हैं।

इन परवानो के देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम डिंगल एव द्वितीय पिंगल भाषा में लिखा गया है। ये करीब-करीब एक ही समय के हैं। अतएव ज्ञात होता है कि भाषा के दोनो प्रकारो का विकास करीब-करीब साथ ही हुआ। एक बात पर ध्यान जाता है, वह यह कि प्रथम में पूर्ण विरामादि चिन्ह नही और द्वितीय में हैं। इससे प्रथम राजस्थान की ओर बोली जानेवाली बोली या असाहित्यिक भाषा है व द्वितीय उस समय की शुद्ध साहित्यिक भाषा। महाकवि चन्द ने इसी द्वितीय भाषा मे अपना महाकाव्य रचा। चन्द केवल राजाओ के गुण गान करने वाला भाट नहीं था। वह साहित्यिज्ञ और वीर भी था। उसकी भाषा में कितने ही दोष कोई क्यो न निकाले, किन्तु यह कहने के लिए हमे बाध्य होना ही पडता है कि उस काल का वह सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक एव परमोत्तम रचनाकार है। उसकी रचनाएँ यह बताती हैं कि हिन्दी-भाषा का विकास उसके समय तक कितना हो गया था। यह तो निस्सदेह कहा जा सकता है कि युद्ध-वर्णन जिस विस्तार के साथ, सर्वांग-पूर्ण उसने किया, वैसा आज तक कोई कवि नही कर सका। इसका कारण स्पष्ट है। उसने युद्ध देखे ही न थे; युद्ध लडे थे। अतएव युद्ध-वर्णन के वह सर्वथा योग्य है। भाषा के विकास को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द के समय में भाषा अपना अपभ्रंश का परिधान उतारकर नवीन वस्त्र धारण कर रही थी। उसके काव्य का कुछ अश प्राकृत से एव कुछ अश सूर के समय की हिन्दी से मिलता है। सभव है यह पीछे से जोडा हुआ अश हो। किन्तु इस समय तक हिन्दी-भाषा में वह माधुरी नही आई थी, जिसका एक-मात्र श्रेय सूर और तुलसी को

है। जैसा कि कुछ समय पहिले खड़ी बोली के लिए कहा जाता था। इसलिए उस समय के कई संस्कृतज्ञ विद्वान् कदाचित भाषा मे काव्य-रचना करने में अपना गौरव नही समझते थे। गौरव समझना तो दूर, वे इसमे अपनी अल्पज्ञता समझते जैसा कि खड़ी बोली के संबंध मे अंग्रेजी भाषा के विद्वानो के विचार थे। बिलकुल यही परिस्थिति उस समय थी।

अमीर खुसरो की रचना यद्यपि गद्य का विकास बताती है, तथापि वैसी भाषा मुस्लिम-प्रभाव-गत उत्तरी प्रांत विशेषकर मेरठ के आस-पास ही अवश्य बोली जाती रही थी, पर वह उस समय तक व्यापक नही हुई थी।

इसके पश्चात् अब कुछ बिहारी भाषा के सम्पुट के साथ विद्यापति की सरस लहरी में हिन्दी-साहित्य गोते लगाने लगता है। यहाँ एक दूसरी ही छटा देखने को मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि भाषा के विकास का समुचित रूप प्रदर्शित नही करती है, क्योंकि इन की भाषा मैथिल है जिस पर हिन्दी से अधिक साम्य होते हुए भी बंगला का भी प्रभाव लक्षित होता है भाषा पर ही नही, साहित्य, कहने का ढंग (शैली नही), विचारणा एवं मधुरता पर भी।

कबीर की भाषा साहित्यिक नही और न इन्होने उसे साहित्यिक बनाने का प्रयत्न ही किया है। वे तो जब चाहते या जो भाव उनके हृदय में आते, उन्हे खरी, सीधी, सच्ची, बिना अच्छे बुरे का खयाल किये कह डालते। भला उन्हे भाव के आगे भाषा की क्या जरूरत थी ? निर्गुण के आगे सगुण की उपासना से उन्हे क्या मतलब था ? निर्णय केवल ज्ञान और भाव पर अवलंबित है। सगुण

भावुकता, सरसता पर। इसी का प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा है। फिर उनके समय में तो भाषा रूपी झरना सुविस्तृत सरिता नहीं बना था। कबीर ने भी उसे स्वतन्त्रता पूर्वक बढने दिया। उसके प्रवाह को रोका नहीं। उसके किनारे घाट बाँध उसे मनोरम बनाने की चेष्टा नहीं की। इसीलिए यहाँ भाषा का झरना बहुत तेज बहता है। पर्वत से बहती आई पाषाण-शिलाओ के खण्ड अभी तक उसमे दिखाई दे रहे है। और कबीर तो उपदेशक थे, साहित्यिक नहीं। तत्कालीन भिन्न-भिन्न स्थानो पर बोली जाने वाली प्रचलित भाषा में ही उन्होंने अपने उद्गार प्रकट किये हैं। अतएव उनकी भाषा में हम हिन्दी-भाषा के विकास के चिह्न पाते हैं और यह देखते है कि अब उसने अपना अपभ्रंश का चोला बिलकुल उतार दिया। वह कुछ प्रौढ हो चली थी, शरीरांगो की दृष्टि से, वय की दृष्टि से नहीं; पर थी अभी वह अल्हड़ बालिका ही। ऐसी अवस्था में कबीर से शुद्ध साहित्यिक भाषा की आशा रखना व्यर्थ है। पर स्थान-स्थान पर उसके अगो से भाषा मे ओज-रूपी दीप्ति की प्रभा फूट-फूटकर निकल रही है।

हिन्दी-भाषा के समान हिन्दी-साहित्य भी अभी तक पूर्ण विकसित अवस्था तक नहीं पहुँचा था। सातवी शताब्दी में जिस अलकार ग्रन्थ का होना बताया जाता है उसका अवतरण अश भी अप्राप्य है। दो-तीन वर्षों तक, उस समय, प्राकृत, सस्कृत एव अपभ्रंश भाषा के साहित्यो का ही प्राबल्य रहा। बाद में ग्यारहवी शताब्दी मे तत्कालीन वीरो पर अवश्य प्रचुर साहित्य मिलता है। जैसे विजयपाल रासो, नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जिनमे शृंगारिक भावो का अवलम्बन कर वीरो की यश-गाथा गाई गई है। वह समय ही ऐसा था जब कि वीर रस-समन्वित काव्य की आवश्यकता थी और इस साहित्य ने बहुत कुछ अशो में उसकी पूर्ति की भी। शृंगार का जो

पुट इस साहित्य मे दिया गया, वह भी तत्कालीन शृंगारिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है कि उस समय के वीर भी शृंगारिक प्रवृत्ति को एक ओर रख या केवल देशभक्ति की भावनाओं से ही वीरता-प्रदर्शन नहीं किया करते थे।

इसके कुछ समय पश्चात् ही विद्यापति की सरस लहरी और कबीर की प्रबल धारा में हिन्दी साहित्य लहराता रहा। विद्यापति ने जो माधुर्य, जो सरसता, जो कोमल कान्त शब्द रचना का प्रवाह बहाया, वह अप्रतिम है। पर उनकी रचनाओं में संस्कृत और बिहारी भाषाओं का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इसीलिए उनके साहित्य के प्रभाव की धारा पश्चिम की ओर न आकर पूर्व की ओर जा निकली और उसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कम और बंग-साहित्य पर अधिक पड़ा। पर यह तो कहना ही पड़ेगा कि सूर पर विद्यापति के साहित्य का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है। सूर चाहे विद्यापति या उनके काव्य से परिचित न रहे हों, पर यह अवश्य था कि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यापति की भावनाएँ सूर के हृदयाकाश में मँडरा रही थीं। विद्यापति की अश्लीलता संस्कृत-कवियों की परम्परा से आई और इसी से सूर को भी इतना साहस हो सका कि राधा-कृष्ण के अश्लील प्रेम को भी वे अपने भक्ति प्रवाह में बहा ले जा सके। अतएव सूर-साहित्य के अध्ययन के पहिले विद्यापति का अध्ययन भी एक आवश्यक बात हो जाती है।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से विद्यापति के साहित्य ने कोमलता, सरसता, माधुर्य, संयोग शृंगार से ओत-प्रोत भावनाएँ, सजीव वर्णन दिये, उसी प्रकार कबीर ने भी सूर-साहित्य को ओज, निर्भीकता, साहस, उद्दण्डता, कुछ-कुछ अंशों में छिछलापन और सत्य कथन देने में कमी नहीं की। क्योंकि कबीर के साहित्य में इन्हीं गुणों की प्रचुरता पाई जाती है। कबीर के साहित्य का प्रचार भी साधारण जनता में काफी हो चुका था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति

के साहित्य ने सूर की आत्मा बनाई तो कबीर ने शरीर, किन्तु पृथक्-पृथक् । सूर ने जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, इन दोनों का सम्मिलन करने में अपनी प्रतिभा का कमाल दिखाया पर साथ ही उनके कुछ दोष भी उनमें आ गये, जो उन्होंने तुलसी के सुधार के लिये छोड़ दिये ।

सूर साहित्य सागर अगम है । उसकी थाह लेना कठिन है; किन्तु कुछ आधार लौह स्तम्भ ऐसे हैं या उन आधारों की लौह-जंजीर ऐसी है जिसके सहारे हम कुछ समय तक उसमें स्नान कर आनन्द उठा सकते हैं । राजनैतिक अवस्था, धार्मिक परिस्थिति एवं हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास रूपी तीन आधारों के द्वारा हम

विष्णु, वैष्णव धर्म तथा उसके सिद्धांत

उस सागर के किनारे पहुंच चुके हैं, किन्तु अब उसमें स्नान तब तक नहीं कर सकते जब तक हम (१) विष्णु, वैष्णव धर्म एवं वल्लभाचार्य (२) संगीत (३) एवं भक्ति-रूपी तीन आधारों का सहारा और न ले लें । नीचे हम इन्हीं तीन विषयों पर विवेचन कर सूर-साहित्य में प्रवेश करेंगे । इन पर विवेचन किये बिना सूर-साहित्य को समझना बड़ा कठिन है क्योंकि इनका और सूर-साहित्य के परिचय का घनिष्ट सम्बन्ध है ।

वैदिक-साहित्य में जितना उल्लेख हमें शिव पर मिलता है, उतना विष्णु पर नहीं । इससे ज्ञात होता है कि उस समय शिव का विष्णु से कहीं अधिक महत्व था । कहीं-कहीं तो विष्णु शिव के विरोधी शक्ति से दिखाई देते हैं । पर प्रारम्भ में विष्णु सूर्य के अवतार माने गये हैं और इनका महत्व किसी भी अन्य देव से कम नहीं समझा गया है । संहिताओं में विष्णु का विशेष और कई बार उल्लेख आया है । संहिताओं के समय में विष्णु का महत्त्व बढ़ गया था और शिवादि अन्य ईशों से भी अधिक उनका सम्मान था । वे विश्व के एक-मात्र अधीश्वर सृष्टि कर्ता माने जाते

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि विष्णु और शिव के पूजकों में जिस प्रकार सूर के समय और उसके भी कुछ पहिले कलह और विवाद था वही, उसी प्रकार का कलह और विवाद वैदिक काल में भी रहा होगा। इसीलिए कभी हमें अन्य ग्रन्थों में भी, शिव का महत्व और महात्म्य अधिक मिलता है और कभी विष्णु का। इससे जनता की तात्कालिक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। इसके पश्चात ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवतार विषयक विचार स्पष्ट नहीं ज्ञात होते। कदाचित् उस समय उनके अवतार माने जाने का विचार उत्पन्न हो गया होगा, किन्तु प्रचार न हो पाया होगा या तात्कालिक जनता उस विचार को कुछ महत्व न देती रही होगी, जैसा कि आगे चलकर हम पुराण ग्रन्थों में देखते हैं। आजकल गांधीजी जिस प्रकार अवतार नहीं माने जाते, पर उनका महत्व किसी भी अवतार से कम नहीं है और जनता के हृदय में एक अस्पष्ट भावना ऐसी दिखाई देती है कि आगे चलकर सम्भव है वे अवतार समझे जाने लगें; वैसी ही परिस्थिति उस समय भी दिखाई देती थी। उसके पश्चात वामनावतारवाली कथा पर ध्यान जाता है, जहाँ वे राजा बलि से तीन पग में समस्त वसुधा को माँगकर इन्द्र का कष्ट निवारण करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इन्द्र अवश्य उस समय में कोई बड़ा वैभवशाली आर्य राजा रहा होगा और बलि तो स्पष्ट रूप से अनार्य राजा-सा ज्ञात होता है। वैदिक काल में इन्द्र तो सब देवताओं (Gods) में श्रेष्ठ समझा गया है और जैसी दुर्गति इन्द्र की बाद में मिलती है, उसका रंच भी आभास पहले दिखाई नहीं देता। बार-बार इन्द्र की सहायता के लिये भगवान आते हैं और वह किसी से पराजित होता है तो उसकी सहायता की जाती है। यहाँ तक कि भले-बुरे का विचार छोड़कर भी उसे क्षमा प्रदान की जाती और सब प्रकार से उसकी सहायता की जाती है। दधीचि तक अपनी हड्डियाँ उसे वज्र

बनाने के लिये दे देते है। इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है कि वह अवश्य कोई आर्य राजा रहा होगा, जिसकी सहायता ऋषि-मुनि समय समय पर सब प्रकार से किया करते थे। बाद में आर्य और अनार्यों के मिलन से अथवा उनमें पारस्परिक भेद भाव के मिट जाने से उसका महत्व बहुत कम हो गया। आजकल की राजनैतिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि यह अनार्यों का प्रोपेगेंडा था, जिसने इन्द्र को इस पद पर ला पटका* पर जनता अवश्य उस वैदिक विचार को भूल गई थी, नही तो इन्द्र की जो एक समय अत्युच्च पद पर था दुर्गति न हुई होती। वामनावतार में विष्णु त्याग के अवतार के रूप में आये है। इसके पश्चात् के ग्रन्थो मे विष्णु पर कृष्ण के रूप में जो आपत्ति आई है उसका वर्णन मिलता है, किन्तु उस समय तक विष्णु प्रमुख देव नही माने गये थे और न अवतार ही की कल्पना की गई थी। अभी जो तैत्तरीय आरण्यक प्रकाशित हुआ है उसके देखने से ज्ञात होता है कि इस समय से भी वे कुछ अशों में अवतार माने जाने लगे थे। महाभारत में विष्णु इस अवतार के सम्मान से विभूषित हो

*इसी कथन की पुष्टि अशोक-वन एव उसकी भूमिका तथा कतिपय अन्य ग्रथो से भी, जो दक्षिण भारत में लिखे जा रहे हैं, होती है। आज से ७, ८ वर्ष पहिले मैंने इन विचारो को व्यक्त किया था और आज मैं देख रहा हूँ, राम-रावण के सम्बन्ध में भी वही विचार-धारायें भारतीय साहित्य में विलोड़ित हो रही है। राम का महत्व कम और रावण का अधिक प्रचारित किया जा रहा है। अखिल भारत की एकता की दृष्टि से रावण का महत्व बढे इसमें कोई हानि नहीं। किन्तु दोषारोपण के स्थान पर समन्वय की भावना का होना आवश्यक है।

——लेखक

गये। यहाँ एक विशेष बात ध्यान में रखने की यह है कि इस समय तक एक ही स्थान को छोड़कर कहीं कृष्ण का नाम नहीं आया था; पर यहां वे उसी विष्णु के अवतार के रूप मे दिखाई देते है और इस समय कृष्ण एक प्रमुख और लोकप्रिय व्यक्ति हो जाते हैं जिनका वेदो में बिल्कुल अस्तित्व ही न था। महाभारत में विष्णु का उतना ही वर्णन मिलता है जितना कि कृष्ण के लिए आवश्यक है या कृष्ण के अवतार कहलाने के लिए उचित है। अभी तक इन्द्र ही एक बड़े पूजा योग्य देव के रूप में सम्मानित था जैसा कि गोवर्धन पर्वत के उठाने की कथा से विदित होता है। देवकी-पुत्र कृष्ण का वर्णन केवल एक बार वैदिक साहित्य में आता है। वहाँ वे एक ऋषि के शिष्य के रूप मे ही प्रदर्शित किये गये है। विक्रम की दो शताब्दी पूर्व से हम कृष्ण को नाटक के नायक के रूप में पाते है। इसके भी लगभग सौ वर्ष पूर्व कृष्ण यूनानी देव हरक्यूलीज के समान पूजित हुए ज्ञात होते हैं, जैसा कि मेगेस्थनीज ने लिखा है कि वह गगा के किनारे पूजा जाता है। उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि विष्णु का मत ज्यादा प्राचीन नही है। [अधिक प्राचीनता में शिव ही की महिमा अधिक है। शिव का बार-बार उल्लेख भी है।] ब्राह्मण ग्रथो ने ही इसका प्रचार किया है। विष्णु का नाम केवल कृष्ण के सम्बन्ध ही में आता है जो एक कुल-देवता थे। एक राजपूत के कुल-देवता भी कृष्ण माने गये है।

धीरे-धीरे विष्णु का महत्व बढता गया। उनका अस्त्र 'चक्र' और वाहन 'गरुण' बनाया गया। यह भी माना जाने लगा कि वह अपनी पत्नी श्री या लक्ष्मी के साथ जो कि सुन्दरता, आनन्द एव विजय की देवी मानी जाती थी वैकुण्ठ में निवास करते है। कही कही धीरे-धीरे विष्णु ब्रह्मा का कार्य करते हुए भी दिखाई देते है। नारायण से भी जो शेष या अनन्त कहलाते थे और बहुत प्राचीन देवता थे इनका

अब सम्बन्ध हो जाता है और ये हिरण्यगर्भ कहलाये जाने लगते हैं। साथ ही साथ वे सृष्टि-कर्त्ता भी मान लिये जाते है और इस समय उन का पद सर्वोच्च ही नहीं किन्तु देवता से परमात्मा का हो जाता है जहाँ ये अपनी इच्छानुसार सृष्टि-रचना एव प्रलय या महाप्रलय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब उनकी इच्छा सृष्टि-रचना की हुई तब उनकी नाभी से एक कमल निकला और उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यहीं से हम विष्णु को ससार के कष्ट-निवारणार्थ पृथ्वी पर अवतार के रूप में जन्म लेते हुए देखते हैं। ऐसा कई बार हुआ है। कृष्ण के रूप मे उनका बहुत महत्वपूर्ण अवतार हुआ है, जहा वे गीता में यह प्रसिद्ध श्लोक कहते हैं

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानसृजाम्यहम् ॥"

यही अवतारवाद का सिद्धान्त है। यह केवल वैष्णव धर्म की ही विशेषता नहीं है, वस्तुतः यह भारत के धार्मिक विकास को स्पष्टतया बताता है। इसका परिणाम यह हुआ कि यह जनता की इच्छा पर निर्भर रहा कि वह एक परमात्मा को माने या अनेक को। इससे अभी तक जो अनेक परमात्मा पूजे जाते थे उनमें साम्य स्थापित किया गया और जो कटु विरोध फैला हुआ था वह मिटाया गया। इस प्रकार प्राचीन के स्थान पर नवीन की सृष्टि हुई।

जनता के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि जनता तो केवल अंध-विश्वास और परम्परा को माननेवाली होती है। जैसा उसका नियंत्रण किया जाय वैसी ही चलने को वह तत्पर रहती है। अब कोई एक ईश को माने या अनेक को कोई रोक-टोक नही थी और इससे जनता में कई

प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हो गई थी। इसी का बहुत आगे यह परिणाम हुआ कि जब प्राकृत का स्थान देश-भाषाओं ने ग्रहण किया तब यहाँ अनेक मत, सिद्धान्त और पंथ फैले। पहले-पहल इसका कुछ विरोध अवश्य हुआ और उनमें कुछ धार्मिक जोश भी दिखाई दिया किन्तु बाद में सब प्रभाव कम होता गया और ये सब धाराएँ बनकर विशाल हिन्दू-धर्म के महासागर की ओर बहती दिखाई देने लगी।

वल्लभाचार्यजी का जन्म एक तैलग ब्राह्मण के यहाँ सम्वत् १५३५ (सन् १४७८ ई०) में वैशाख कृष्ण ११ को हुआ था। इनके सम्प्रदाय के लोग इन्हे अग्नि से उत्पन्न मानते हैं। भक्तमाल में इनके विषय में लिखा है कि ये विष्णु स्वामीजी के सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और भक्त थे और गोलोक से वात्सल्य, निष्ठा और भक्ति का प्रचार करने के लिए अवतरित हुए थे। इन्होंने भगवान की मूर्ति की स्थापना कर भगवत्-भक्ति की प्रेरणा लोगो से की और अपना एक नवीन मार्ग, जो कि पुष्टि मार्ग कहलाता है, चलाया, इनका यह सेवा कार्य ऐसा था कि लोग स्वय ही इसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इन्होंने भगवान के बाल स्वरूप ही की विशेष भक्ति की है।

इनका कहना यह था कि भक्त भगवान की जिस रूप से आराधना करता है भगवान भी उसे उसी प्रकार परम पद पर अधिष्ठित करते हैं वल्लभाचार्यजी को बाबा नद माना है। पर प्रश्न यह उठा कि यशोदा किसको समझा जाय क्योंकि कृष्ण की भक्ति के लिए स्त्री पुरुष दोनो की ही आवश्यकता थी। अतएव एक ब्राह्मण कन्या से इनका पाणिग्रहण कराया गया। इनसे इनको विट्ठलदास नामक पुत्र पैदा हुआ। यद्यपि ये राधिकाजी को कृष्ण की परम प्यारी समझकर विशेष रूप से उन्ही की पूजा करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण को भी पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानंद समझा जाता है। भगवान के बाल-रूप के लिए इन लोगो में बड़ी निष्ठा रहती है।

ये आँगन को घर से ऊँचा नही करते इस कारण कि लड़का चलते समय कही गिर न जाय। भगवान के शयन के समय जोर से बोलते नहीं इसलिए कि उनकी निद्रा भग न हो जाय। इस समय कोई कोटाधीश भी उनके दर्शन को आये तो उसे दर्शन प्राप्त नही होते। जो तल्लीन भक्ति इस सम्प्रदाय के लोगो में देखी जाती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होने अपने को वल्लभ इसलिए कहा कि वल्लभ उस गोप जाति का ही एक नाम है जिसमें नद उत्पन्न हुए थे। ऐसा भी कहा जाताहै कि एक बार एक साधू इनसे मिलने आया। पर वह अपना बटुआ जिसमें भगवान् की मूर्ति थी एक वृक्ष पर लटका आया। मिलकर जब वह वापिस लौटा तो वह मूर्ति उसमें नही थी। वह फिर वापिस लौट आया तब वल्लभाचार्यजी ने कहा कि अपने इष्टदेव को छोडकर भी कोई कही जाता है। उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की और पुनः जाकर अपनी मूर्ति प्राप्त की। कई लोग यह भी कहते हैं कि इनके पुष्टि मार्ग का यह आशय है कि भगवान को खूब पुष्ट करना। उनको भोग लगाना, खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाना और सेवा सुश्रूषा करना चाहिये और व्रत, उपवास सब-आदि करने की आवश्यकता नही। इसमें प्रथमांश तो व्यवहार में ठीक वैसा ही है किन्तु अन्तिम बात ठीक नही है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ देखने व विद्वानो के पूछने पर हमें ज्ञात हुआ कि ऐसा नहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग व्रत, उपवासादिक भी करते है। शृगार में यद्यपि इनकी तल्लीनता है किन्तु तपस्या करने एवं वैराग्य धारण करने को ये कोई बुरा नहीं मानते। और न ऐसा कहीं इनके सम्प्रदाय के ग्रन्थो में ही उल्लेख मिलता है। गीता को ये सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ मानते और इसके सिद्धान्तो का पालन करते हैं; किन्तु उसके ज्ञान मार्ग को कर्म मार्ग को नही। यह अवश्य है कि कुछ शृगारिक प्रवृत्ति होने से इस सम्प्रदाय में कई दोष आ गये है। पर यह बात कई अन्य सम्प्रदायो में भी दृष्टि

गोचर होती है। यजुर्वेद में अग्नि का नाम पुष्टिवर्धन भी है। वल्लभाचार्यजी अपने को अग्नि का अवतार मानते थे। अतएव इनके चलाए एक मार्ग को पुष्टि-मार्ग कहना उचित ही है। ईश्वर के अनुग्रह का नाम पुष्टि है। अतएव पुष्टि-मार्ग का आशय यह भी हो सकता है कि वह मार्ग, धर्म या सम्प्रदाय जिसमें ईश्वर के अनुग्रह का अधिक ध्यान रखा जाता है। यही बात इस सम्प्रदाय में भी देखने को मिलती है। ये व्रत, उपवास, तपस्या की अपेक्षा भगवदनुग्रह पर ही अधिक अवलम्बित रहते हैं। जिस सम्प्रदाय ने सूर जैसे कवि को जन्म दिया उसके सिद्धान्त ऐसे नही हो सकते जैसे बाह्य रूप में हमें दिखाई देते हैं। वास्तव में सिद्धान्त देखने के लिए हमें उस समाज के चरित्र को नहीं, प्रत्युत उसके आचार्यों के द्वारा कथित मार्ग को देखना ही उचित है। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय के पुष्टि-मार्ग ने दुःखावृत जनता के लिए उस समय बाम (Balm) का काम किया था।

'पुष्टि-मार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत्, चित और आनन्द-स्वरूप है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती है उसी प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् निकलते हैं। ये उससे भिन्न नही हैं। अंतर इतनाही है कि जीव आनद को खोकर केवल सत् और चित् को अंशतः धारण किये रहता है। मुक्त होकर जीव आनद-स्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिरकाल तक एकाकार होकर रहता है। स्वर्गीय वृन्दावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरन्तन विहार करते है, भक्तो का आधार और लक्ष्य है।' 'हिन्दी -भाषा और साहित्य'

अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास ये आठ कवि थे जिन्होने कृष्ण-काव्य की धारा का निर्मल प्रवाह प्रवाहित किया।

अष्टछाप के कवि तथा इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत पर प्रभाव

इनमें प्रथम चार, तो श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे और शेष चार गुसाईं बिट्ठलदासजी के, जिन्होने इन आठो प्रमुख कवियों को अष्टछाप के नाम से सगठित किया था। इनमे सूरदास तो सर्वश्रेष्ठ थे ही, नन्ददास भी एक उच्च-कोटि के कवि हुए हैं। अन्य इतने प्रसिद्ध नही हुए। इनमे कृष्णदास किसी शूद्र जाति के थे, पर थे बड़े भक्त। परमानन्ददासजी कनौजिया ब्राह्मण थे। ये बड़े योग्य कवि और पूर्ण भगवद्भक्त थे। कीर्तन अच्छा करते और गायनादि में भी बड़े निपुण थे। इसलिए जहाँ जहाँ वे जाते वहाँ-वहाँ इनका एक समाज-सा स्थापित हो जाता था। कुंभनदासजी गोवर्धन पर्वत के निकटवर्ती जमनावती ग्राम के रहने वाले थे और परासोली चद सरोवर के पास इनकी कुछ जमीन-जायदाद भी थी। वही ये खेती करते थे। ये स्वामीजी के परम भक्त थे। नददास के विषय में कहा जाता है कि ये गोस्वामी तुलसीदासजी के छोटे भाई थे पर वास्तव में गोस्वामी तुलसीदासजी के भाई नही थे, किसी अन्य तुलसीदास के भाई रहे होगे। इनको नाच-गायनादि का बड़ा शौक था। एक दिन तुलसीदासजी से बिना पूछे घर से बाहर निकल गये। द्वारका जाते समय रास्ता भूलकर सीनंद ग्राम में पहुँच गये। वहाँ एक क्षत्राणी पर आसक्त हो गये। जब उस क्षत्राणी के घरवालो को यह मालूम हुआ तो वे वहाँ से भागे नंददास जी को मालूम हुआ तो वे भी पीछे-पीछे गये। तब उस क्षत्राणी के घर वालो ने नाविक से कहा कि भाई हमें पार उतार दो और इनको मत उतारो, क्योकि ये हमें दुःख देते है। जब उस पार पहुँचे तो श्री विट्ठलदासजी ने कहा कि उस पार तुम जिस ब्राह्मण को छोड आये हो उसे ले आओ। तब नन्ददासजी भी आ गये और इनसे मिले तो भगवद्भक्ति में ही इतने तल्लीन हो गये कि उस क्षत्राणी

का ध्यान तक भूल गये। इनकी रचना बड़ी सुन्दर है और कई विद्वान तो इनके भ्रमरगीत को सूरदास के भ्रमरगीतो से अच्छा मानते है। इसमे शक नही कि इनकी रचना में सहृदयता और कवित्व का अच्छा परिपाक हुआ है। सूरदासजी के समान इन्होने भी भ्रमरगीत एवं उद्धव-गोपी-संवाद लिखे हैं। उसी सम्प्रदाय के होने के कारण इन्होंने भी अपनी रचनाओ में सगुण परमात्मा की भक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। छन्द-रचना भिन्न होने पर भी, पात्र, कथा एव लेखन-शैली की एकता पाई जाती है। अष्टछाप के कवियो मे भी कवित्व, सगुणोपासना, भक्ति आदि का साम्य पाया जाता है, जो स्वाभाविक है। नददास की उक्तियाँ अनूठी अवश्य हैं और शायद सूर के अनुकरण अथवा स्पर्धा में लिखी गई ज्ञात होती है किन्तु विदग्धता होते हुए भी स्वाभाविकता उतनी नही है, जितनी सूर मे है। नंददास की गोपियाँ तर्क करनेवाली विदुषी स्त्रियाँ हैं, पर सूरदास की गोपियाँ साधारण, भोली व्रजबालाएं। नंददास के आमने सामने तर्क-वितर्क, खडन-मडन करनेवाले दो दल उपस्थित किये हैं, पर सूर की गोपिया अपने विरह में स्वाभाविक रूप से जो निकल जाता है, वही प्रकट करती है। चतुर्भुजदासजी कुम्भन-दासजी के पुत्र थे। जब ये ग्यारह दिन के हुए तब ही इन्हे गुरु मन्त्र दिलवा दिया गया। और पीछे तो ये श्रेष्ठ भक्तो मे से हुए। छीत स्वामी मथुरा के निवासी थे। कपूर वार्ता में इनके विषय में लिखा है कि ये मथुरा के पाँच प्रमुख गुण्डो के सरदार थे और लोगो को ठगा करते थे। एक बार उन्होने सोचा कि गोस्वामी विट्ठलदासजी सब लोगो को वश में कर लेते है, यदि हम को करे तब हम जाने। यह सोचकर वह एक खोटा रुपया और एक खराब नारियल लेकर गोसाईंजी के पास पहुँचे। वहाँ गोसाईंजी ने रुपए के पैसे भुनवाये जब पैसे आगये तब नारियल फुड़वाया गया। उसके अन्दर अच्छी गिरी निकली। यह

देखकर छीत स्वामी भी इनके भक्त और कवि हो गये। गोविन्द स्वामी-सनाढ्य ब्राह्मण थे। आँतरी ग्राम में रहते थे। ये भी परम भक्त हुए हैं। इन सब ने श्रीकृष्ण का जितना गुणगान किया है, उसका हिन्दी साहित्य पर अमिट प्रभाव है, जिस समय ये भक्त कवि अपने सदुपदेशो एव मधुमयी वाणी से अमृत सिंचन कर रहे थे उस समय का क्या कहना? उस समय गोकुल, मथुरा, व्रजभूमि कृष्णमय हो ही रही थी। वास्तव में वल्लभस्वामी चाहे अवतार न रहे हों; कृष्ण का अवतार न हुआ हो, किन्तु उस समय जो आनन्दातिरेक व्यक्त होता था, वह उस समय की देन है और यदि गोस्वामी तुलसीदास सदृश महाप्रतिभाशाली प्रकाण्ड विद्वान् नही हुआ होता तो समस्त उत्तर भारत ही कृष्णमय हो जाता। उस प्रवल वेग के समक्ष मत-मतान्तर, पथादि सब एक ओर रह जाते; क्योंकि वगाल को श्री कृष्ण चैतन्य ने कृष्ण भक्ति से ओत-प्रोत कर ही दिया था। इधर से अष्टछाप के अष्ट-काव्य महारथी कृष्ण-काव्य रचना में जुटे हुए थे। जो प्रवाह इन्होंने प्रवाहित किया वह एक साधारण स्त्रोत-मात्र ही नही था जो साधारण गर्मी में शुष्क हो जाता। वह बहता रहा और आज तक उसमें जल प्रवाहित हो रहा है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि इस प्रवल स्रोत के साथ अकेले तुलसी ने भी वह स्त्रोत प्रवाहित किया जो अक्षय और अनन्त है और सदा हिन्दी-साहित्य पर अपना अमिट प्रभाव वनाये रखनेवाला है।

मानव-जीवन को ही यदि हम संगीतमय मान लें तो अत्युक्ति न होगी। सगीत ही जीवन है। मानव-जीवन का एक बडा भाग करुणा-मय है। यह करुणा हमारी हृदय तत्री को झंकृत कर देती है, यह झंकार जिस अलौकिक राग को जन्म देती है, यह भी सगीत ही है। आधुनिक रहस्यवादी कवियो एव उनके अनुयायियो में जो हम

संगीत और सूर का तद्विषयक ज्ञान

रुदन देखते हैं, उसका कारण शायद यही है। यह संगीत मानव-हृदय के एक विस्तृत भाग पर अधिकार किये हुए है। समस्त ब्रह्माण्ड का एक एक अणु तक संगीतमय है। संगीत ही मानव जीवन का एक-मात्र आधार है। बिना संगीत के जीवन ही नहीं वह शुष्क है, नीरस है। संगीत ही मनुष्य को हँसा और रुला सकता है। इसका प्रभाव बड़ा व्यापक है। असभ्य जातियों में भी संगीत और नृत्य का बड़ा महत्व है, यद्यपि अन्य ललित कलाओं से ये भी अनभिज्ञ हैं। संगीत नादाश्रित है। नाद-ध्वनि ही समस्त वसुधा में व्याप्त है। इसके झकोरों से वायुमंडल कंपायमान हो सकता है। इसी के द्वारा एक आत्मा का संदेश दूसरी आत्मा तक पहुँचता है। संसार के सब व्यापारों में संगीत ही का साम्राज्य है। कुछ शास्त्र ऐसा भी मानते हैं कि पृथ्वी केन्द्र से एक ध्वनि निकला करती है। इसलिये यह ज्ञात होता है कि भूगर्भ भी संगीत-विहीन नहीं है। ऐसा भी कहा जाता है कि वेद के पहिले नाद की उत्पत्ति हुई; तब तो यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। भारत का जीवन ही आदि-काल से संगीतमय रहा है, क्योंकि जीवन स्वयं एक करुण संगीत है। अतएव जिस समय से मानव-प्राणी ने इस भू पृष्ठ पर प्रथम साँस ली होगी, उसी समय से संगीत का प्रादुर्भाव हुआ होगा। भारत ने तो इसे अपनी आदिम अवस्था में ही उच्च कोटि पर पहुँचा दिया था। पर यह भारत का दुर्भाग्य है कि इसने अन्य कलाओं के साथ संगीत को भी तिलाञ्जली दे दी। इससे उसका विकास अवश्य रुक गया, पर यह संगीत ही की शक्ति थी कि वह अनेकों आघातों को सहकर भी अपनी सत्ता एवं महत्ता कायम रख सका। विदेशी आक्रमणकारियों के नृशंस हाथ सब ललित कलाओं एवं शास्त्रों को नष्ट करने में समर्थ हो सके किन्तु संगीत के समक्ष उनको भी नतमस्तक होना पड़ा। संगीत तो यहाँ की वायु के प्रत्येक अंश में व्याप्त था। यदि उस वायु को हटाकर ये विदेश की वायु ला सकते तो अवश्य संगीत का स्थानापन्न भी इन्होंने

कोई ढूँढ निकाला होता । सगीत ही एक ऐसा विषय मुस्लिम आधिपत्य के समय रहा है जहाँ हिन्दू और मुसलमान एक साथ गले मिल सके है । जो कार्य काव्य नही कर सका है वह सगीत ने किया है । आचार्य के स्थान पर चाहे उस्तादजी लोग कहते रहे हो किन्तु उस समय सगीत की रगभूमि पर दोनो एक थे । सगीत के विषय मे यह भी कहा जाता है कि वह कुरान की शरीयत के विरुद्ध है । फिर भी इस्लाम सगीत के प्रति अप्रिय नही रहा और भारतीय सगीत को जब वह यहाँ अपनी दृढ नीव जमा चुका था अपना लिया । अन्य शास्त्रो के समान भरत मुनि ही इसके भी आदि आचार्य माने जाते हैं, किन्तु सगीत का प्रचार हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से ही था । सामवेद की रचना का मूलाधार ही सगीत है । सगीत के द्वितीय महा आचार्य शारगदेव हुए हैं । इन्होने पिछले कई आचार्यों के विषय में लिखा है, किन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नही है । इन दोनों आचार्यों के समय मे मोटे रूप से यही अन्तर है कि जहाँ पहले केवल तीन स्वर माने जाते थे वहाँ शारगदेव के समय तक सात स्वर माने जाने लगे थे और वे ही आज तक माने जाते हैं । सूर का समय सगीत के पूर्ण विकास का काल है । यह वह उच्च शिखर है जहाँ तक उसका उन्नति मार्ग चढता आया और वहाँ से फिर उसका उतार प्रारंभ हुआ और उसकी रूप-रेखा ही विकृत, विलीन सी और क्षीण होती गई ।

सगीत में गायन, वाद्य एव नृत्य तीनो सम्मिलित है । सगीत का अर्थ यह है कि जो सम्यक् प्रकार से गाया जा सके । सगीत-शास्त्र सात भागो में बँटा हुआ है स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, कोक और हस्त । गीत दो प्रकार के होते है एक यत्र, दूसरा गात्र । जो वीणा आदि वाद्य यत्रो से गाया जा सके, वह यत्र है एव जो कंठ से गाया जाये वह गात्र । गीतो के छ अग भी माने जाते हैं, यथा पद, तान, विरुद, ताल, पाट और स्वर । सगीत में अक्षरो की मात्रा-शुद्धि एव

पुनरुक्ति आदि दोषो का विचार नही किया जा सकता। गाना-बजाना दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक एव रागात्मक। रागात्मक चार प्रकार का होता है। एक स्वर प्रधान जिसमें स्वर के आग्रह से ताल की मुख्यता न रहे। दूसरा उभय प्रधान जिसमें तान बराबर रहे और स्वर भी सुन्दर हो। तीसरा शुद्धता प्रधान जिसमें राग के शुद्ध रूप रहने का आग्रह हो। चौथा माधुर्य-प्रधान जिसमें राग का कुछ रूप बिगड़े तो बिगडे, पर माधुर्य रहे। सगीत के स्वर ये हैं षड्ज, ऋषभ गाधार, मध्यम्, धैवत, पचम एव निषाद। षड्ज मयूर की बोली के समान, ऋषभ गाय की, गाधार अजा की, मध्यम् क्रौंच की, धैवत कोकिल की, पचम अश्व की, एव निषाद गज की बोली के समान है।

इन सप्त स्वरो को सक्षेप में स, रि, ग, म, प, ध, नि, लिखते हैं। ये सातो स्वर शरीर की वायु-वाहिनी नलिकाओ के आधार पर निश्चित किये गये हैं। सबसे ऊँचे स्वर को निषाद कहते हैं। इससे ऊँचा स्वर और नही होता। पचम स्वर उत्तम इसलिए समझा जाता है कि इसमें प्रथम पाँचो स्वरो के सम्मिश्रण से एक अत्युत्तम राग आलापित होता है।

खरज से ऋषभ तक पहुँचने मे जहाँ स्वर बदले उस वस्तु को मूर्च्छना कहते है। गान में स्वरो को गले मे कँपाने को भी मूर्च्छना कहते हैं। जो स्वरों को आरम्भ करे एव सूक्ष्म रूप से उसमे व्याप्त रहे उसे श्रुति कहते हैं। ये २२ होती हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी या काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे एक महाराष्ट्र विद्वान ने इनकी विवेचना कर यह सिद्ध करके का प्रयत्न किया था कि श्रुतियाँ और अधिक हैं।

ताल समय का सूक्ष्म से सूक्ष्म एव बड़े से बडा समान विभाग ताल कहलाता है। ताल की उत्पत्ति इस प्रकार की कही जाती है महादेवजी के नृत्य ताडव का 'ता' तथा पार्वतीजी के नृत्य लास्य से 'ल'

लेकर इस शब्द का सृजन हुआ है ।

नृत्य   नृत्य भी विशेषकर उपर्युक्त दो ही प्रकार का माना गया है यथा ताण्डव व लास्य । जब नृत्य उग्र, मानविक ओजमय रहता है, तब उसे ताडव नृत्य कहते है तथा जब वह मधुर, स्त्रीत्वयुक्त एव सरस रहता है, तब उसे लास्य कहते हैं । क्रमश शिव एव पार्वती के नाम से इनका सम्बन्धित होना ही इनके भावो का स्पष्टीकरण है ।

भाव निर्विकार चित्त मे प्रीतम व प्रिया के सयोग अथवा वियोग के, सुख दुःख के अनुभाव से जो प्रथम विकार हो वह सगीत में भाव माना जाता है ।

कोक   ायक, नायिका, रस, अलकार, उद्दीपन आदि का ज्ञान 'कोक' कहलाता है तथा नृत्य-गायन आदि में हस्तादि चलाना 'हस्त' ।

सगीत के सम्बन्ध में कई बाते प्रचलित हैं जैसे अमुक राग अमुक प्रकार गाना, अमुक समय गाना एव अमुक राग को ठीक प्रकार से गाने से यह फल होता है अथवा हानि होती है । सगीत वही प्रशस्त है जिसमें अनुराग हो । गानेवाले अथवा सुनने वाले में यदि अनुरक्ति का अविर्भाव नहीं हुआ तो वह सगीत सगीत नही ।

सगीत-विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते है और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है । वास्तव में यदि काव्य और सगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही हैं । तुलसी को यद्यपि हम भुला नही सकते, पर सूर की सरस लहरी सगीत के उपयुक्त उपकारी है और उसका सुबोधपन उसके गुण-गौरव और महत्ता को और भी कई गुणा अधिक बढाने मे समर्थ है । जहाँ तुलसी की सस्कृत-पदावली संगीत के माधुर्य को किन्ही अंगो में कम कर देती है वहाँ सूर की प्रकृत प्रसवित होनेवाली शब्द लहरी समान रूप से स्वाभाविकता, सादगी, अल्हडपन

और प्रमाद को लिए आगे बढ़ती है । बड़े-बड़े रूपक भी संगीत के लिए तुलसी अनावश्यक रूप से प्रयोग में लाये हैं, पर सूर के रूपक छोटे, आवश्यक करते हुए सरल और आकर्षक हैं। इसी लिए तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके है जो उसका शृंगार है। ऐसा करने में सूर ही समर्थ हो सके है। संगीत की सरल लहरी भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ बहा सके है ।

मुद्रित सूर सागर में कई अशुद्धियाँ मिलती है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो वास्तव मे कई अशुद्धियाँ मुद्रण में तथा प्रतिलिपियों के कारण अवश्य रह गई है पर कई अशुद्धियाँ नही कहलाई जा सकती। इसका कारण है और वह यह कि उनके पद गेय है और संगीत मे नाद की स्थिति के अनुसार शुद्ध उतरते है। कई श्रेष्ठवर्यो ने उन्हे अशुद्ध पाठ समझ शुद्ध शब्द रखने या शुद्ध पाठ देने का प्रयत्न किया है: किंतु ऐसा करने के पहिले किसी गायनाचार्य की सम्मति उन शुद्धाशुद्ध पाठो के लिए लेना सूर के सदृश गायक और संगीतज्ञ के साथ न्याय करना है। क्योंकि केवल काव्य-ज्ञान के आधार पर सूर के पदों के पाठों को शुद्ध करना पूर्णतया उनके साथ न्यायसंगत नहीं हो सकता।

सूरदासजी ने कोई ऐसी राग-रागिनी नही छोडी है जिस पर उनका पद न मिलता हो। कई तो उनमें ऐसी है जिनके लक्षणो के विषय मे सामग्री ही प्राप्त न हो सकी। संभव है उनके समय मे कुछ ऐसी रागिनियाँ प्रचलित हो, जो आजकल के गायक उपयोग में न लाते हो अथवा किन्ही दूसरे नामो से पुकारते हो। कोई संगीताचार्य विद्वान ही अत्यन्त छानबीन के पश्चात इस विषय पर समुचित रूप से प्रकाश डाल सकता है ।

सूर के पदो में काव्य-माधुरी तो है ही किंतु संगीत की दृष्टि से तो उनका महत्व और अधिक बढ जाता है। कही कही पर जो खटक है वह

गायन मे शुद्ध हो जाती है।

सूरदासजी ने समस्त सूर-सागर मे कान्हरा, मारू, धनाश्री, रामकली नट, सारंग, केदारा, देवगंधार, सोरठ, विहागरा, मलार, गौरी, परज, कल्याण, गूजरी, आसावरी, नट-नारायण, बसंत, भैरव, आदि राग रागिनियो का प्रयोग किया है। इनमे भी कई विभिन्न प्रकार से गाई जा सकती है।

सूर के सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वे प्रकृत गायक थे। उन्हे सगीत का प्रकाण्ड ज्ञान ही नहीं था, वरन उन्होने अपने सब पद गाने के लिए ही बनाये थे जिन्हे वे अपने गुरु वल्लभाचार्य महाराज तथा उनके पुत्र तथा गद्दी के अधिकारी विट्ठलदासजी को सुनाया करते थे और उनसे उत्तरोत्तर प्रोत्साहन प्राप्त कर अपनी प्रतिभा तथा साहित्य की वृद्धि करते जाते थे। इसी समय इन्होने संगीत मे भी अपनी अप्रतिम गति प्राप्त कर ली थी। जिसका पूर्ण उपयोग इन्होने सूर-सागर सदृश महासागरका प्रणयन करने में किया। ये अष्टछाप के कवियो में तो अग्रगण्य थे ही। संगीताश्रित काव्य का आधार लेकर ही सूर स्वयं भाव-विभोर हो जाते थे और भक्तो को भावमग्न कर देते थे। वह मीरा और सूर की ही सगीत-समन्वित भाव-लहरी थी जिसने भगवान कृष्ण का इतना महत्व प्रतिष्ठित कर दिया था। उन्हे व्यापक और जन-समूह मे बिखरा दिया था। सूर की इसी सरस लहरी ने वृन्दावन एवं गोकुल के कण-कण की वन भूमि, कँटेदार वृक्षो, यमनाकूल, तमालादि वृक्षो को पूजित, दर्शनीय बना दिया था, उनमे जीवन एव ईशत्व का प्रादुर्भाव कर दिया था। वह समय धन्य था। जिस समय सूर अपनी तान छेडते तब वातावरण में वह व्याप्त हो जाती, और इतनी गहरी आज वह हो गई है कि आज तक हम उस स्वर-लहरी को सुन रहे हैं और भविष्य में भी सुनते रहेंगे। सगीताश्रित होने के कारण ही उनके

जीवन में ही उनका काव्य जनप्रिय हो सका। उसे आकर्षित और भक्ति-मय कर सका। सूर के अक्षर-अक्षर में संगीत मुखरित हो उठता है, संगीत जब काव्यमय होता है तब सोने में सुगंध का काम करता है, बड़ा व्यापक और प्रभावोत्पादक होता है। सूर का काव्य भी संगीत के सम्मिलन से ऐसा ही हो गया है।

यह भी हमें नहीं भूलना चाहिये कि सूर ने इतना गीति-काव्य (Lyric poems) लिखा है जितना हिन्दी क्या किसी भी विश्व की उन्नत भाषा में सर्वथा अप्राप्य है, और जैसे-जैसे सूर के संगीत-ज्ञान पर खोज और विवेचन होगा वैसे-वैसे सूर केवल महाकवि ही नहीं महा संगीतज्ञ भी माने जायेंगे और यदि अत्युक्ति न समझी जाय तो मैं यह निश्चय-पूर्वक और दृढ़ता से कह सकता हूँ कि विश्व में उनका अद्वितीय स्थान होगा।

अन्य अनेक कवियों एवं महापुरुषों के समान सूरदास के संबंध में भी बहुत कम ज्ञान है। विस्तृत विवरण की तो कौन कहे जन्म एवं मृत्यु तिथि तक लिखने का भाव हमारे यहाँ नहीं रहा है। यह अवश्य

सूर का संक्षिप्त वृत्त

हमारे यहाँ के कवि करते रहे कि वे ग्रंथ प्रणयन की तिथि दे दिया करते थे। इससे एवं इतिहास के आधार से कई ज्ञातव्य बातों का पता लग जाता है। मिश्रबन्धुओं के अनुमान से इनका जन्म संवत् १५४० एवं मृत्यु १६२० के लगभग हुई। चौरासी वैष्णवों की वार्ता एवं भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। ये सीही ग्राम के निवासी थे और इनके माता-पिता निर्धन थे। ऐसा भी कहा जाता है कि जब यह आठ वर्ष के थे उस समय ये अपने माता के बहुत आग्रह करने पर भी एक तीर्थ में एक-साधु के पास रह गये। ये एक अच्छे गायक थे और गीत बना बनाकर लोगों को सुनाया करते और

उपदेश दिया करते थे और गऊघाट पर रहा करते थे। इनके विषय में यह कहा जाता है कि ये जन्मान्ध थे; किन्तु विद्वानो ने इनके ग्रन्थो का अध्ययन कर एव उसमें वर्णित विषय की बातो पर विचार कर यह निश्चित किया है कि ये जन्मान्ध नही थे और वास्तव मे ये जन्मान्ध नही मालूम पडते है। इनका विस्तृत ज्ञान, इनका प्रकृति अवलोकन, रूप-रंग का यथार्थ वर्णन, मानवी स्वभाव का अनुशीलन आदि कई बाते इनके साहित्य में इतनी प्रचुरता मे प्राप्त होती है कि इन्हे जन्मान्ध मानने में सन्देह होता है। इनके अन्धे होने के विषय मे एक कथा भी प्रसिद्ध है किन्तु उसमें कितना सत्यांश है यह कहना कठिन है। कथा यों है, एक बार इन्होने एक सुन्दर स्त्री को देखा और देखकर उस पर इतने मोहित हो गये कि बार बार उसके घर का चक्कर लगाने लगे। यहाँ तक कि एक बार तो ये उसके घर के अन्दर भी चले गये और उस स्त्री से प्रणय-याचना की। किन्तु उसके उपदेश से या स्वयं हृदय में कुछ ज्ञान उत्पन्न हो जाने से वापिस लौट आये। ऐसा भी कहा जाता है कि एक रात्रि को जब ये उसके प्रकोष्ठ में पहुँचे तो एक लटकते हुए सर्प को रस्सी समझकर उसके सहारे चढे थे। वापिस लौटने पर इन्हे अपनी करनी पर बडा पश्चाताप हुआ और अपने हाथो अपनी आँखें फोड ली। इस प्रकार के कथन अन्य महात्माओ के विषय में भी प्रचलित है और इन सब में कुछ न कुछ सत्यांश हो सकता है। कारण कि सृष्टि के प्रारंभ से ही काम और वासना का दौर दौरा इस संसार में चला आ रहा है। कई महात्माओ के साथ एक ही प्रकार का कथन मिलना कुछ असंभव नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो महापुरुषो की यही जीवनी है। जन्म और मरण की तिथियोंकी साधारण घटनाओंसे समन्वित मध्यकाल को किसी महापुरुष की जीवनी मानना तो अनुचित ही नही, उस कविश्रेष्ठ के प्रति अन्याय करना है। महाकवि की जीवनी तो

उन सरस भावुकतामय, सहृदयता से परिपूर्ण घटनाओ की समष्टि है जिसके अन्दर अनुभूति की अविरल धारा, अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहती है, जिसके हृदय पट रूपी यत्र विशेष पर ससार की घटनाओ के चिन्ह अकित होते रहते है, जिसके हृदय-गिरि से भावों और रसो के स्त्रोत बहा करते है। तुलसी की नही म हाकवि तुलसी की जीवनी का श्रीगणेश "हम तो चाखा प्रेम रस पत्नी के उपदेश" वाली घटना से होता है। महाकवि वाल्मीकि की जीवनी युगल क्रौंच पक्षी के जोडे के करुण अन्त से शुरू होती है। महाकवि कालिदास की जीवनी पत्नी के धिक्कार से प्रारभ होती है। ये ही सरस, भावुकता से परिपूर्ण घटनाएँ किसी कवि की सच्ची जीवन गाथाएँ है। इनमे विश्वास करने में चाहे किसी को हिचकिचाहट हो। पर मानव-जीवन सदा से ही इन्ही स्त्रोतो मे से प्रवाहित होता आया है। ऐसी घटनाएँ ही भावो को चरम-सीमा पर पहुँचा सकती है, मनुष्य को कवि बना सकती है। यदि ये अथवा ऐसी घटनाएँ घटित न हो तो प्रतिभा अपना पथ छोड दे, कवित्व की अनुगामिनी होना छोड़ दे। इसी प्रकार सूर की उक्त घटना में सत्याश कितना है इसका पता लगाना कठिन है, पर सूर के हृदय की जीवनी के सत्याश का सार तत्व तो वही है, जिससे सूर सूर हो सके, महाकवि हो सके। बिना भाव विभोरता के कवि होना बिना जल प्रवाह के धारा का होना है। पर मानवी जीवन का सिलसिला तो इस प्रकार रहा, जो यद्यपि कवि जीवनी के लिए, महत्वपूर्ण नही, पर शायद किसी की मनस्तुष्टि उससे ही हो जाय।

एक बार गऊघाट पर महाराज वल्लभाचार्यजी पधारे थे। सूरदास जी ने जब इनके आगमन के विषय मे सुना तब ये भी उनसे मिलने गये। इस समय जब आचार्यजी ने इनसे कोई पद गाने के लिए कहा तब इन्होने "हौं हरि सब पतितन को नायक" एव "प्रभु मै सब पतितन

का टीको" वाले पद कहे। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये गऊघाट पर रहते थे और अपने जीवन पर पश्चाताप करते रहते थे तभी के विनय-सम्बन्धी पद हैं। वल्लभाचार्यजी ने इनको प्रतिभाशाली समझ कहा सूर तुमने भगवान की विनय तो बहुत करी अब कुछ भगवान की बाल-लीला गाओ। उस समय से ये भक्त हो गये और वल्लभाचार्यजी की वात्सल्य-भक्ति का इन पर खूब प्रभाव पड़ा। इनका मस्तिष्क उर्वर और प्रतिभा-सम्पन्न तो था ही बस फिर क्या था, उस ओर प्रवाहित हुआ तो उसने उस सूरसागर 'की रचना की जो विश्व-साहित्य में अग्रणी है। इस समय ये नये-नये पद रचते जाते थे और आचार्यजी को सुनाया करते थे। वे भी इनका उत्साह बढ़ाया करते थे इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी प्रतिभा एवं साहित्य की वृद्धि होती चली गई।

एक बार सूरदासजी मार्ग में चले जाते थे तब इन्होंने चौपड़ खेलते हुए कुछ लोगों को देखा और उपदेश दिया। उस समय उन्होंने यह पद कहा 'मन तू समझि सोच विचार'। बाद में ये श्रीनाथजी की सेवा किया करते और पद बना-बनाकर सुनाया करते थे। एक बार सूरदासजी ने 'देखो देखो हरि जू को एक स्वभाव' वाला एक पद कहा तब चतुर्भुज-दासजी ने कहा कि भगवान का यश तो तुमने बहुत वर्णन किया, अब महाप्रभु आचार्यजी का भी तो यश गाओ। तब सूरदासजी ने कहा कि मैंने तो समस्त पद उन्हीं पर बनाये हैं। फिर भी उन्होंने यह पद गाया

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहि द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

मृत्यु के कुछ समय पहिले सूरदासजी पारासोली चले गये और वहाँ जब गोस्वामीजी ने इनसे पूछा कि तुम्हारी चित्त-वृत्ति कहाँ है, तब

सूरदासजी ने जो पद कहा वह बहुत ही मार्मिक एवं उत्कृष्ट है।

"खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट श्रवनन के उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटके नातरु अब उडि जाते॥"

पद समाप्त होते ही नेत्र-खंजन सदा के लिए उड़ चले।

सूरदासजी के निम्न लिखित पाँच ग्रन्थ कहे जाते हैं। सूरसारावली, सूरसागर, साहित्य-लहरी (दृष्टकूट), नलदमयन्ती और ब्याहलो। इनमें प्रथम तीन प्रकाशित एवं प्राप्य हैं, और शेष दो अप्राप्य।

सूर के ग्रन्थ

अतएव सूर साहित्य पर विचार करते समय प्राप्य तीन ग्रंथों पर ही दृष्टि सीमित रहेगी। सूरसागर सारावली एवं सूरसागर के पृष्ठादि के लिए मैंने श्री वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित सूर सागर का एवं साहित्य लहरी के लिए सरदार कृत टीका का एवं बाबू हरिश्चन्द्रजी की टीका का सहारा लिया है।

सूरसागर-सारावली ३८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसमें प्रथम 'वन्दौं श्री हरिपद सुखदाई' वाला पूर्ण पद है और उसके नीचे टेक गायन के लिए। इसके पश्चात सरसी एवं सार छन्दों के ११०६ द्विपद छंद और

सूरसागर-सारावली

है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि यह सूरदासजी रचित सवा लाख पदों का सूचीपत्र है। सारावली के ऊपर ऐसा भी लिखा है और मिश्रबन्धुओं ने भी इसी के अनुसार इसे सूची ही माना है, पर मेरी समझ में यह सूची नहीं है। सूरसागर पढ़ने के उपरांत मैंने सारावली भी पढ़ी पर मुझे यह सूची नहीं, प्रत्युत सारावली ही जँची। वास्तव में यदि उसे सूची माना जाय तो ऐसा मानना होगा कि उनके

कई उत्तम उत्तम पद जैसा कि कहा भी जाता है, छूट गये हैं। और सूरदासजी ने सूरसागर के जो छोटे-बड़े स्कन्ध बनाये हैं, वे दशम स्कंध के पूर्वार्ध को छोडकर सब प्रायः बराबर ही रहे होगे, पर ऐसा नही है। मेरा खयाल है कि ऐसे ही पद नष्ट हुए हैं जो साधारण कोटि के होंगे, अथवा उनके पदो से इतना अधिक साम्य होगा कि उनकी आवश्यकता ही न हो या उनके पद नष्ट ही नहीं हुए हो। सूरसागर से पीछे सारा-वली की रचना हुई यह तो बात निश्चित और स्वयंसिद्ध है ही। यदि सवा लाख पदो की ही सूची होती तो वह इसमे बड़ी होती और प्राप्य सूरसागर भी अवश्य ही अधिक वृहदाकार होता; क्योंकि सूर सागर से सारावली उत्कृष्ट नही है। कोई भी वह चाहे सूरदासजी रहे हो अथवा अन्य कोई या जनता, उसने सूरसागर के पदो को नष्ट होने दिया हो और सारावली को नष्ट होने से बचाया हो, ऐसा नही हो सकता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह सारावली इसी सूरसागर के आधार पर बनी है और यदि स्वयं सूरदासजी ही ने इसका संकलन किया है, और ऐसा है भी तो उनके पद नष्ट नही हुए वरन उन्होने स्वय अनुपयोगी एव अत्यधिक साम्य रखनेवाले अनुत्तम पदों को सूर-सागर में स्थान नही दिया। सारावली मै इसे इसलिये कहता हूँ कि इसमें संक्षेप में समस्त सूरसागर का सार दिया गया है। इसमें एक बात और ध्यान देने की है वह यह कि सूरदासजी ने उचित समानुपात से इसका सार नही लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है, कि कई अवतारो के वर्णन में व अन्य कथाओं के वर्णन में उन्होने सूरसागर में कुछ कम लिखा था उसे यहाँ कुछ बढा दिया है और वहाँ जिसका वर्णन ये विस्तृत रूप से कर आये हैं उसको संक्षिप्त कर दिया है। इसकी रचना करने का उनका कदाचित् एक उद्देश्य यह भी रहा हो जैसा कि इसके पढ़ने से मुझे ज्ञात होता है, जो वैष्णव भक्त या उनके सम्प्रदाय के लोग

समस्त सूरसागर का पाठ न कर सके और उसमे वर्णित कथा से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहें वे अल्प समय में अपनी जिज्ञासा की तृप्ति इसमें कर ले। अतएव इसे सूची नहीं बल्कि सारावली मानना ही अधिक उचित है। इसकी भाषा भी मुक्त सूरसागर के कई शिथिल पदों, वर्णन आदि से अच्छी प्रतीत हुई। इसमें एक विशेषता और है वह यह कि यद्यपि यह सूरसागर के उत्कृष्ट पदो की समता नही कर सकती, किन्तु इसमे कथा का प्रवाह नियमित एवं समान रूप से प्रस्रवित होता चला गया है, इसलिये हम इसे उनकी प्रबन्धरचना भी कह सकते हैं। पर आश्चर्य यह है कि सूरसागर वास्तव में प्रबन्ध-रचना नही है। उसे कई लोग ऐसा मानकर कहते हैं कि कथा बीच बीच मे शिथिल हो गई है। वह बाह्य रूप से भले ही प्रबन्ध रचना दिखाई दे पर है नही। प्रबन्ध रचना यदि कोई उनकी है तो यही सारावली। इसका सूरदासजी ने स्कन्धवार भी साराश नही लिखा है। समस्त बारह स्कन्धो का साराश एक साथ ही लिखे गये है। और न यह ऐसी प्रतीत होती है कि महा-कवि ने सूरसागर की पुनरावृत्ति कर इसका साराश लिखा है; इससे भी हमारी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है। सूरसारावली के संबंध मे मान० श्री द्वारिकाप्रसादजी मिश्र का निश्चित मत है कि वह सूरदासजी की लिखी नहीं है, जब सूरसागर का संग्रह ही सूरदासजीने नही किया... तब उसके द्वारा उसका सूचीपत्र तैयार किया जाना असंभव बात है।... किसी निम्न श्रेणी के कवि ने सूरसागर का संग्रह हो चुकने पर सूरसागर सारावली बनाई।

सूर का यह ग्रन्थ भी अनुपम है। शब्दो के गुम्फन में सूर ने जिस प्रकार इसमें सुन्दर भावो को सन्निहित किया है उसे चाहे कोई उच्च-कोटि का साहित्य न माने या अधम कोटि के साहित्य में परिगणना करे

सूर के दृष्टि-कूट या साहित्य-लहरी

किन्तु है यह अनूठी चीज। इसमें यद्यपि वह माधुर्य, मार्दव एवं सौष्ठव नही है जो सूरसागर मे दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वैसी ही बहुत कुछ झलक शब्दावरण को निकाल देने पर दिखाई देने लगती है, जैसे नारियल से नरेटी को पृथक कर देने पर पौष्टिक, सुस्वादु एवं उज्वल गरी मधुरता निकल आती है। कला पक्ष तो इसमें प्रधान है ही, भाव पक्ष मे भी पूर्ण प्रबलता दिखाई देती है। इस ग्रन्थ पर किसी विद्वान द्वारा लेखनी चलाना ही उपयुक्त होगा। यहाँ केवल कुछ सरल उदाहरण इसीलिए दे रहा हूँ कि सूर-साहित्य पर लिखते समय साहित्य लहरी पर भी लिखना आवश्यक है। इसी कमी की पूर्ति करने के लिए मैंने कुछ साहस किया है। यदि इस पर न लिखा जाय तो विषय-वर्णन अधूरा रह जाता है। पर इतना मै अवश्य कहूँगा कि इसमें भी कई पद ऐसे हैं जिनकी समता सूरसागर के सर्वोत्कृष्ट पदो से की जा सकती है। एक उपयोगिता इस ग्रन्थ की और हो सकती है। वह यह कि, यदि इसे कोई काव्य की, या काव्यानन्द की दृष्टि से न पढे तो न पढे, पर अपना साहित्यिक, शाब्दिक एवं सम्बन्धात्मक ज्ञान बढाने के लिए यह ग्रथ बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

साहित्य लहरी के सबन्ध में मा० मिश्र जी का मत है कि उसमें दिये गये पद सूरदास से ही लिये गये हैं और सूर-रचित हैं। इसमें सन्देह का कोई कारण नही दिखता। सग्रहकार अवश्य सूरदासजी नही हो सकते। सभव है, रहीम ने ही इस प्रकार के पदो को चुनकर अलग सग्रहीत किया हो; परन्तु इसका कोई प्रमाण नही है।

श्याम और राधा दोनो ने कुज-भवन मे जाने का निश्चय कर लिया था। राधा तो पहुँच गई पर कृष्ण अभी तक नही आये हैं। राधिका बार-बार चिन्तित होकर उन्ही की प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी अवस्था

में बड़ी विकलता होती है, जी बहुत चाहता है कि यह करूँ, वह करूँ; किन्तु उसका चित्त किसी ओर नहीं लगता। राधा भी प्रतीक्षा में, क्षण-क्षण में कभी अपने भूषणों को देखती है, कभी वस्त्रों को सँभालती है और दुखी हो होकर साँसे ले रही है। इसी पर एक सखी कहती है—

"आज अकेली कुंज भवन में बैठी बाल विसूरत।
तरु-रिपु-पति-सुत की सुध सौंची जान साँवरी मूरत।
दूर भूषन खन-खन उठाइ दै नीतन हरि घर हेरत।
तनु अनुगामी मनि मैं मैंके भीतर सुरुच सकेरत॥
ताहि-ताहि सम करि-करि प्यारी भूषन आनन माने।
सूरदास वै जो न सुलोचनि सुंदर सुरुचि बखाने॥"

राधा और कृष्ण दोनों की जुगल जोड़ी का वर्णन सूरदासजी इस प्रकार करते हैं। एक सखी की दूसरी सखी से उक्ति है:

"देखि सखी पाँच कमल द्वै संभु।
एक कमल ब्रज ऊपर राजत, निरखत नैन अचंभु॥
एक कमल प्यारी कर लीहैं कमल सकोमिल अंग।
जुगल कमल सुत कमल विचारत प्रीति न कबहूँ भंग॥
षट जु कमल मुख सन्मुख चितवत बहु विधि रंग तरंग।
तिन में तीन सोम बसी बस तीन-तीन सुक सीपज अंग॥
जेइ कमल सनकादिक दुर्लभ जिनते निकसी गंग।
तेई कमल सूर नित चितवत नीठ निरंतर संग॥"

श्याम के विरह में एक बाला सखी से कह रही है हे सखी, श्याम से प्रीत कर मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवाया। क्योंकि प्रेम होते तो हो जाता है, पर उसका छूटना असम्भव रहता है। इसी आग में वह भी जल रही है। शान्तिदायक जितने पदार्थ हैं वे भी आज उसे जला

रहे हैं और इसका उस पर इतना प्रभाव पड़ा है कि उसे इस संसार से ही ग्लानि उत्पन्न हो रही है। उसे कुछ अच्छा नहीं लगता है। वह कहती है:

"सजनी जो तनु वृथा गँवायो।
नन्द नँदन ब्रजराज कुँवर से नाहक नेह लगायो ॥
दीध सुतवर रिपु सहे शिलीमुख सुख सब अंग नसाये।
शिव-सुत-वाहन-रिपु-सुत ते सब तन ताप तचाये ॥
घर आँगन दिसि विदिशि सूर जात वह मूरत देखी।
सूरज प्रभु ते कियो चाहियत है निर्भेद विसेखी ॥"

सूरसागर पर विवेचन करने के पहिले दो बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। एक तो जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सूरसागर कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं है, यद्यपि उसमें श्रीमद्भागवत की कथा कही गई है,

सूरसागर

पर वह भागवत का अनुवाद नहीं है। इसलिए सूरसागर पर विचार करते समय हमें उसे प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। कई समालोचक स्वयं उसे प्रबन्ध काव्य मान लेते हैं और फिर यह कहते हैं कि इसमें कथा-प्रवाह नहीं अथवा स्थान-स्थान पर रस विरस हो गया है। यह कहना अनुचित है। कोई भी काव्य केवल कथा-सम्बन्धी पद लिख देने से एवं उन्हें किसी समय क्रमवार कथा के अनुरूप जमा देने से ही प्रबन्ध काव्य नहीं कहला सकता। इसी दृष्टिकोण को रख सूर और तुलसी की आलोचना करते समय भी कई समालोचक यह कहते देखे गये हैं कि सूर में तुलसी के समान कथा कहने की शैली ठीक नहीं है। कथा कथन की दृष्टि से सूर और तुलसी की तुलना करना ही विभिन्न प्राणियों को एक मानकर तुलना करना है। सूर ने स्फुट पद रचना की है अतएव सूर गीति-काव्य के रचयिता हैं, एवं उन पर इसी दृष्टि से

विचार करना उचित एव न्याय-सगत है। कइयो ने इस भंग कथा-प्रवाह को मिश्री की डली मे फाँस तक लिखा है; परन्तु उन्हे यह ध्यान में रखना चाहिये था कि सूरसागर एक जमाई हुई मिश्री के टुकड़े कर एक थाल में पृथक रखी हुई डलियाँ है। एक-एक डली का स्वाद लेने के लिये कुछ समय अवश्य चाहियेगा। यह फाँस नही है; वल्कि यह इसलिए है कि उस डली का पूर्ण स्वाद लिया जाय और उसकी पूरी मिठास मुँह मे समाप्त होने के पहिले ही दूसरी डली मुँह मे पड जाय। वास्तव में इस आनन्दाधिक्य को यदि कोई फाँस कहे तो क्या कहा जाय। अतएव सूर की समता किसी से हो सकती है तो कवीर, विद्यापति या तुलसी के कुछ स्फुट काव्यो से हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कई विचारक सूर के एक ही प्रकार के पदो को एक साथ सूर सागर मे पाने के कारण यह कहा करते हैं कि उनसे जी ऊब जाता है। यह कहना भी अनुचित है, कारण कि जो वस्तु जिस उपयोग की है उसे उसी प्रकार से उपयोग मे लाना ही वुद्धिमत्ता का काम है। सूरसागर से आनन्द उठाने के लिए या किसी भी काव्य से अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए भाव-मग्न होना जरूरी है। तुलसी के मानस के समान सूरसागर की भाषा भी ऐसी ही है कि थोड़े अभ्यास से और प्रचलित होने के कारण उसे साधारण जन भी पढ सकते हैं और उससे लाभ और आनन्द उठा सकते हैं।

इस विषय मे भी विद्वानो का मत-भेद है कि सूरसागर के पदो का संग्रह स्वयं सूरदासजी ने किया है। कवीर के पदो, सखियो आदि के समान सूर के पदो का संग्रह भी शायद उनका नही है। स्फुट पद और एक ही भाव के विभिन्न पद यह स्पष्ट वनाते हैं कि उनका उद्देश्य कोई काव्य-ग्रन्थ लिखने का नही वल्कि भगवान के समक्ष, वल्लभाचार्यजी की प्रेरणा से हृदयगत् भक्ति का प्रदर्शन था। प्रतिदिन वे कई नवीन पद वनाते और नाच-गाकर भगवान के सामने सुनाते थे। और चूँकि सूर-

दासजी अंधे थे वे अपने पद अपने मस्तिष्क-पट पर ही अधिकांशतः लिखा करते। उनके पद या तो श्रोतागण सुनकर स्मरण रखते रहे होंगे अथवा उनके लिए लिखा दिया करते होंगे, अथवा वल्लभाचार्यजी ने ही कुछ प्रबंध कर दिया होगा। ऐसा भी कहा जाता है कि बाद में महाकवि रहीम ने इनके पदों का संग्रह किया है। भक्तमाल आदि ग्रंथों से भी इसी कथन की पुष्टि होती है।

सूरसागर प्रथम स्कंध में ३४ पृष्ठ हैं। इनमें कथा भाग अत्यल्प है एवं विनय संबन्धी पदों की अधिकता है। इस स्कंध को हम सूर की 'विनय-पत्रिका' कह सकते हैं, वैसे तो द्वितीय स्कन्ध में एवं अन्य स्कन्धों में भी विनय-सम्बन्धी पद हैं, किन्तु विनय का जो लालित्य इसमें देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'विनय-पत्रिका' सदृश पद-लालित्य एवं दीनता-प्रदर्शन चाहे इसमें न हो किन्तु मार्मिकता, सहृदयता, भक्ति की भावना एवं व्याकुलता की इसमें कमी नहीं है। विनय-विभोर हो सूर ने जो भावों की सरिता बहाई है वह देखते ही बनती है।

सूरसागर के स्कन्धों का संक्षिप्त परिचय

द्वितीय स्कन्ध में ५ पृष्ठ है। प्रारम्भ में कुछ सरस एवं भावपूर्ण पद हैं; एवं अन्त में नारद-ब्रह्मा-संवाद, २४ अवतारों का उल्लेख एवं ब्रह्मोत्पत्ति का वर्णन है। यह स्कंध प्रथम से छोटा ही नहीं है, वरन पद भी उसमें उतने उत्कृष्ट नहीं है। फिर भी कुछ पद उत्तम हैं और साहित्यिक भक्तों के लिए तो तीन चौथाई भाग ऐसा है जिसमें उन्हें पर्याप्त आनन्द प्राप्त हो सकता है।

तृतीय स्कंध में उद्धव-विदुर संवाद, मैत्रेय को कृष्ण का ज्ञान-संदेश, सनकादि अवतार एवं रुद्र उत्पत्ति वर्णन, सप्त ऋषि एवं चार मनुष्यों की उत्पत्ति की कथा, सुर-असुर उत्पत्ति, कपिल देव का जन्म-

प्रसग तथा देवहूति की माता का कपिल मुनि से प्रश्नोत्तर सम्बन्धी आख्यान है।

चतुर्थ स्कन्ध मे आदिपुरुष एव यज्ञ-पुरुष के अवतार के सम्बन्ध मे पार्वती विवाह, ध्रुव का आख्यान एव भगवानावतार, पृथु अवतार, एव पुरजन की कथा दी हुई है। पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव अवतार वर्णन तथा भारत का आख्यान एव उनकी माया आदि का वर्णन दिया गया है।

षष्ठ स्कन्ध में अजामिल उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अनादर, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिहासन-च्युत होना एव पुन. उसे प्राप्त करना तथा गुरु-महिमा के सबध का आख्यान है।

सप्तम स्कन्ध मे नृसिहावतार वर्णन, भगवान की शिव को सहायता तथा नारदजी की उत्पत्ति के विषय मे कथा है।

अष्टम स्कन्ध में गज-मोचन की कथा, कूर्म अवतार समुद्र मंथन, मोहनी रूप धारण, वामन एव मत्स्य अवतार की कथाएँ दी गई है।

नवम स्कन्ध में, पुरुरवा का वैराग्य-वर्णन, च्यवन ऋषि की कथा हलधर विवाह, सौभरी ऋषि की कथा, गगावतरण की कथा तथा परशुराम अवतार वर्णन के पश्चात् विस्तृत रूप से रामकथा कही गई है। अत में रामराज्याभिषेक के उपरात शीघ्रता से इन्द्र का अहिल्या के प्रति दुराचार एव गौतम का उनको श्राप, राजा नहुष को राज्य प्राप्ति एव इन्द्राणी से कामेच्छा, ब्रह्मा का शाप, सजीवनी विद्या सीखने के लिए शुक्र के पास प्रस्थान, उसकी मृत्यु एवं पुनर्जीवन तथा ययाति की कथा है।

दशम् स्कन्ध उत्तरार्ध में कस वध के पश्चात जरासंध का द्वारका आगमन एव उस पर श्रीकृष्ण की विजय, कालयवन-दहन, मुचुकुन्द उद्धार, द्वारका सुषमा वर्णन, रुक्मिणी का पत्र, उसका हरण एवं विवाह, प्रद्युम्न-जन्म, मणि-प्राप्ति के लिए सत्यभामा एव जामवंती से विवाह,

शतधन्वा का वध, अक्रूर संवाद, पंच पटरानी एवं अन्य सोलह सहस्र स्त्रियों से विवाह का संक्षेप में वर्णन, रुक्मिणि भक्ति परीक्षा, उषा अनिरुद्ध-विवाह, भौमासुर, द्विविद व सुतीक्षण आदि का वध, मृग एवं पुंडरीक उद्धार, साव विवाह, नारद के संशय की कथा, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व एवं वल्लभ-वध, सुदामा-दारिद्र्य-निवारण, राधिकाजी से पुनर्मिलन एवं इन प्रसंगों के पश्चात् अंत में नारद, वेद एवं ऋषियों की स्तुति दी गई है। ग्यारहवें स्कन्ध में नारायण एवं हंसावतार की कथा है। बारहवें स्कन्ध में बुद्ध एवं कल्कि अवतार तथा राजा परीक्षित के हरिपद-प्राप्ति एवं जनमेजय की कथा कही है।

यह स्कंध समस्त अन्य रचना से लगभग चौगुना है। वस्तुतः सूर सागर का यथार्थ भाग यही है। इसकी गहनता, गंभीरता, विशालता, शक्ति, सामर्थ्य, एवं अलौकिकता आदि गुणों की गहराई नापना महारथी आचार्यों का ही काम है। इस भाग में कितने रत्न, कितनी मणियाँ, कितनी निधियाँ अन्तर्हित हैं, कौन कह सकता है। सृष्टि के आदि से, इस सागर से, मानव-समुदाय अपने हितार्थ मणि, मुक्ता, रत्नादि निकालता आ रहा है। अब भी जैसे जैसे इसकी खोज होती जाती है, वैसे-वैसे इसके अनेक रत्न प्राप्त होते जा रहे हैं फिर भी इसकी गहनता के कारण बहुत कम काव्य-पारखी इससे रत्न प्राप्त कर सकते हैं। पर यह महासागर किसी को निराश नहीं करता। जो इससे याचना करता है वह अलौकिक निधि प्राप्त करके ही वापिस लौटता है। यह मानव-हृदय का जीवन प्रदाता है और कभी मानव-समुदाय को रस की कमी न होने देगा।

दशम स्कंध पूर्वार्ध

विश्वामित्र ने तो सृष्टि-रचना आरम्भ ही की थी। उसके अवशेष चिन्ह भी हम नहीं पाते, पर सूर की यह सृष्टि तो अमर है। नदी,

पर्वतों से भी अमर। इस अमर साहित्य में सूर ने मानव-जीवन के कितने महत्व-पूर्ण अंग ठूँस-ठूँस कर भर दिये हैं। भाव-पक्ष का जैसा हृदयग्राही समर्थन इसमें हमें मिलता है वह एक-आध महाकवि को छोड़ अन्यत्र दुर्लभ है। एक ओर से दूसरी ओर महासागर में उतरते जाइये और आनन्द उठाते जाइये। बाल-क्रीडा का जैसा अलौकिक वर्णन, प्रेम का जैसा उज्ज्वल परिपाक, चित्तवृत्तियों का जैसा चातुर्य-पूर्ण चित्रण, भक्ति की जैसी अनन्यता, काव्यानन्द की जैसी माधुरी, काव्य से मधुर संगीत का जैसा समन्वय, निर्मल भावों की जैसी अनवरत बहनेवाली धारा, सरसता की निर्झरणी, भाषा की जैसी प्रसादता एवं प्रवणता, रचना का जैसा सौकर्य एवं माधुर्य, वर्णन-शैली, भाव-चित्रण की यथार्थता, सत्यता एवं दिव्यता इसमें देखने को मिलती है, वह अवर्णनीय है।

कवि कोई व्यक्ति स्वभावतः ही होता है। तत्कालीन परिस्थितियाँ भी उसे पैदा करती हैं; उसका पालन-पोषण करती और शक्ति-सम्पन्न होने पर उसे इस संसार-सागर में छोड़ देती हैं जहाँ वह अपने बाहुबल से, मस्तिष्क-बल से, इस सागर में हाथ-पैर फटकारता हुआ, इसे मथता हुआ अन्त में किसी एक किनारे पर लग जाता है। जब तक वह किनारे पर नहीं पहुँचता बराबर प्रयत्न करता रहता है। इस समय यह अवश्य है कि यदि वह समुद्र के मध्य में हो या तट से दूर हो तो अनन्त आकाश ही उसकी अवलोकनीय वस्तु रहती है। वह उसकी ओर देख सकता है किन्तु उसे अपना वह लक्ष्य नहीं भुला देना चाहिये कि इस संसार-सागर से तैरकर उस पार पहुँचना है। इस सागर-संतरण में जो शक्ति-रहित होते हैं वे इसी में उतराते, बहते और पार नहीं पाते हैं और अन्त में यह सागर उन्हें सदा के लिए अपनी गोद में ले लेता है। पर जो इस सागर को पार कर जाता है, वह प्रकृति माता से अमर

जीवन का पुरस्कार पाता है। वह इस नश्वर संसार में अवहेलित और विलोडित संसार में सम्मानित होता है। पर अमरत्व-प्राप्ति के लिए अमर भावनाओं, अमर अनुभूतियों, अमर और अमिट स्पंदनों और कम्पनों की आवश्यकता होती है। जो कवि इनको प्रश्रय देता, अपने हृदय को इनके रंग में रंगता है वही हृदय की इन अमूल्य और अलौकिक विभूतियों को प्राप्त करता है। सरस्वती माता का वरदे हस्त उसी के मस्तक को सुशोभित करता है। वह मर-मिटकर, आपत्तियों की गोद में पलकर, अवहेलना के तूफानों से टकराकर भी अपना सिर सदा के लिए ऊँचा रख जीता है।

कवि-हृदय एक चलनी के समान है या स्वयं कवि बनने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अपना हृदय वैसा बना लेता है। इस चलनी में संसार की विभिन्न घटनाएँ अनेक सामग्री के रूप में समय-समय पर पड़ा करती हैं। प्रत्येक सामग्री जो वह चलनी प्राप्त करती है उसमें का कूड़ा-कर्कट तो स्वयं धारण कर लेती है और सार, उत्तम एवं शुद्ध वस्तु हमें प्रदान करती है। यदि वह चलनी जो कुछ प्राप्त करती है उसे वैसा ही लौटा दे या उसमें सार वस्तु के साथ कूड़ा-कर्कट भी नीचे गिर जाने दे, तो हम कह सकते हैं कि वह सदोष है। यह दोष यदि अत्यल्प मात्रा में हुआ तो क्षम्य और अलक्षित-सा रहता है; किन्तु अधिक मात्रा में हुआ तो अग्राह्य और त्याज्य हो जाता है। कवि-हृदय भी इसी प्रकार संसार के आघातों को वहन करता है और संसार को अत्युत्तम, मधुर, मृदुल, सार वस्तु प्रदान करता है। यदि वह संसार को उसके उसी प्राप्त रूप में भेंट कर दे तो उसकी विशेषता नहीं, मानवता नहीं। उसे विकृत कर दे, सदोष बना दे तो वह उसका अधर्म है। कवि-हृदय के छिद्र जितने सूक्ष्म और अधिक होंगे, उतनी ही उत्तम वस्तु वह संसार को दे सकेगा। जितने उसकी प्रतिभा के तार सूक्ष्म होंगे उतना ही मनोहर वह पदार्थ होगा।

इस प्रकार का पदार्थ काव्य भी अलौकिक ही रहता है। सुषुप्त मानवात्माओं को जागृत कर सकता है। मृतात्माओ में जीवन डाल सकता है। नश्वर भौतिक शरीर को अमर बना सकता है। गिरे हुए राष्ट्रो को उन्नत और निर्धन राष्ट्रों को सम्पन्न बना सकता है। वह सगर-पुत्र मन्दाकिनी की एक ऐसी निर्मल धारा प्रवाहित कर देता है, जिसका पवित्र जल चिरकाल तक ही नही सृष्टि के अन्त तक काव्य-पिपासुओं की प्यास शान्त करता रहता है; यही एक ऐसी कसौटी है जिस पर हम किसी देश की सभ्यता, आचार-विचार गुण, गौरव आदि को कस सकते है। किन्तु ऐसे काव्य का सृजन करना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। इस पर तो उन इनी गिनी कतिपय महान आत्माओं का ही अधिकार है जो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा को लेकर उत्पन्न होते है और गुरु अथवा संसाररूपी सुगुरु से शिक्षा ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व, प्रतिभा और प्रभाव से उस समय के वातावरण को विलोडित कर या तो बवडर उत्पन्न करते या सरस मन्दाकिनी को प्रवाहित कर देते है।

रस काव्य की आत्मा, भाषा उसका शरीर, भाव-विभाव उसके विभिन्न अग एव अंतर्प्रवृत्तियों का निवास-स्थल ही उसका प्राण प्रदेश है। व्यञ्जना उसका मुँह एव अलकार उसके भूषण हैं। ज्ञान एवं अनुभव उसके चिरकाल तक साथ देनेवाले सहचर मित्र एव सहायक हैं। उसका सर्वांगीण एव समुचित विकास ही उसकी सर्वोत्कृष्टता है। उसके प्राण कल्पना के अनन्त आकाश में चाहे विचरण कर आये, किन्तु उन्हे रहना इसी लोक में होगा।

सभी कवियो मे प्रतिभा भी एक समान नही होती। कुछ कवियो में तो सर्वतोमुखी प्रतिभा पाई जाती है और भाषा पर भी उनका अगाढ़ अधिकार रहता है जिनके द्वारा वे कविता-कामिनी ही को नहीं वरन लोक-भावना को भी हस्तगत किये रहते है। कुछ में विशेष

विषयो के वर्णनो की ही प्रतिभा एव समता रहती है । कई ऐसे कवि रहते है, जिनमें प्रतिभा तो पूर्ण रहती है किन्तु वे अपनी वृत्तियों को केवल कुछ विषयो के वर्णन में तल्लीन कर देते हैं।

सूर की भाषा उस समय की चलती ब्रजभाषा है, जिसमें साहित्यिक भाषा का भी पूरा परिपाक हुआ है; यद्यपि कहीं-कहीं एक-दो अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते है। जो ऐसा मालूम होता है, इतने प्रचलित

सूर की भाषा

हो गये थे कि सूर ने उनका हटाना उपयुक्त न समझा होगा। वे शब्द भी ब्रज-भाषा की माधुरी से युक्त हैं। सूर ने चुने भी ऐसे ही शब्द है। समस्त सूर-साहित्य में निम्नलिखित दो पद ही ऐसे है, जो विशेष रूप से आकृष्ट करते है। वे ये है

"साचो सो लिख हार कहावै ।
काया ग्राम मसाहत करि कै जमा बाँधि ठहरावै ॥
मन वह तो करि कैद अपने में ज्ञान जहतिया लावै ।
माडि-माडि खरिहान क्रोध को पोता भजन भरावै ॥
बट्टा काट कसूर भर्म को फरद तलै लै डारै ।
निश्चय एक पै राखै टरै न कबहूँ टारै ॥
करि अवारजा प्रेम प्रीति को असल तहाँ कतियावै ।
दूजो फरद दूरि करि है यत नेकत तामें आवै ॥
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल का हरिसो तहँ लै राखे ।
निर्भय रूपै लोभ छाँड़ि कै सोई वारिज राखे ॥
जमा-खर्च नीके करि राखे लेखा समुझि बतावै ।
सूर आप गुजरान-मुसाहिब लै जवाब पहुँचावै ॥"

दूसरा है

"प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो ।

सात्विक जमा हुती जो जोरी मिन जालिम नास लायो ॥
वासिल बाकी स्याहा मुजमिल सब अधर्म की बाकी ।
चित्रगुप्त होत मुस्तौफी सरण गहूँ मैं काकी ॥
पाँच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बडी विपरीत ।
जिम्मे उनके माँग मोते यह तो बडी अनीति ॥
पाँच पचीस साथ अगवानी सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी तगीरी भेरी बिसर गई सुधि मो तजि भये नियारे ॥
बढो तुम्हार बरामद हू को लिखि कीनो है साफ ।
सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ ॥"

उनके साहित्य मे इन दो पदो के, जिनमे अरबी-फारसी का शब्द-बाहुल्य है, प्राप्त होने से हम यह नही कह सकते कि सूर का इन भाषाओ पर कितना अधिकार था ? यह तो स्पष्ट ही है इनमे उक्त भाषाओ के शब्द ऊपर से ही जडे हुए प्रतीत होते है और सूर ने किसी समय इन पदो को मौज मे आकर लिख दिया है । सूर की भाषा साहित्य-लहरी को छोडकर सर्वत्र प्रसादगुण-सम्पन्न है । जनता मे जो कुछ समय तक यह बात फैली हुई थी कि सूर को समझना कठिन है, यह केवल भ्रम था जो कदाचित सूरसागर को एक विस्तृत एव विशाल ग्रन्थ देखकर उसे न पढने वालो ने फैला दिया हो, नही तो सूर की भाषा रामचरितमानस की भाषा से सरल है, कबीर की अटपट और दुरूह भाषा से मधुर, शीघ्र समझ मे आनेवाली है । सूरसागर का प्रचार कम होने के कारण और उसके विषय मे भ्रमात्मक विचार रखना उसकी विशालता के कारण ही हुआ, क्योकि लोगो ने उसे आद्यन्त पढने का कष्ट न उठाया । सूर की भाषा मे भाव तुलसी के समान, माधुर्य विद्यापति के समान एव कथन-शैली कबीर के समान है । प्रवाह भी उसमे पूरा-पूरा है, किन्तु एक खटकनेवाली बात यह है कि पदो की प्रथम पंक्तियो मे भावो की

जितनी व्यजना, प्रवाह, सजीवता और गतिशीलता रहती है उतनी अन्त में या अन्त की दो पक्तियो मे नही। कुछ पदो मे अवश्य अन्त तक एक ही सा निर्वाह हुआ है।

सूर ने अपनी समस्त रचना पदो मे ही की है। इसीलिए उनके काव्य को गीति-काव्य कह सकते है। इसकी विशेषता यह है कि कवि अपने मनोनीत समस्त भावो को कुछ ही पक्तियो मे सीमा-बद्ध करके रख देना

सूर की शैली

चाहता है। इसलिए जितने अधिक एक साथ उठने वाले भाव हो सकते है, उन्हे वह उसी एक पद के दायरे मे बद करता है। जितना सौष्ठव, मार्दव एव माधुर्य वह लाना चाहता है, उसे एक ही पद की डिबिया मे बन्द कर देता है। इसीलिए चरित्र - चित्रण का विकास हमे पद शैली मे प्राप्त नही होता। पद-शैली की विशेषता भी यही है कि वह गागर मे सागर भर दे। परिणामत सूर के समस्त पद गेय और पूत भावनाओ से ओत-प्रोत हैं। एक ही पद मे वह अनूठी उक्ति, वह अनुपम प्रवाह, वह सरस विचार-मदाकिनी, वह उच्च कोटि का कवि कौशल, वह अतर्प्रवृ-त्तियो का समन्वय एव वैषम्य देखने को मिलता है जो पृष्ठ के पृष्ठ पढ जाने पर भी प्राप्त नही हो सकता। एक पद ही अपने मे पूर्णता को पहुँचा रहता है यद्यपि समस्या-पूर्ति के कवित्त, सवैयो की अतिम पक्तियो के समान पद की प्रथम पक्तिया भी बहुत ही उत्कृष्ट हुआ करती हैं। अतएव सूर की शैली पर विचार करते समय हमें सूर के एक-एक पद पर विचार करना चाहिये। और कई एक पदो में उन्ही विचारो की पुनरुक्ति सी देखकर चौकने की आवश्यकता नही। फिर भी सूर की रचना की यह विशेषता है कि वे ही भाव यद्यपि एक बार से अधिक आते है, पर उनमें कही शिथिलता का नाम नही; प्रत्युत उत्तरोत्तर आनन्द की वृद्धि ही होती जाती पदो को यदि कोई एक साथ भी किसी कथा-

ग्रथ के समान पढता जाय तो भी वे अरुचिकर प्रतीत नही होगे कारण कि एक पद के पढने से हमारी तृप्ति नही होती और यही इच्छा होती है कि इस रस का और-और आस्वादन करते जायँ । तृप्ति होने का अवसर आने ही नही पाता कि सूर दूसरा प्रसग छेड देते है और हमारा हृदय दूसरी भावनाओ के आ जाने से अतृप्ति की आकाक्षा प्रकट करने लगता है।

विषय की वर्णन-शैली सूर की यह है कि वे पद की प्रथम पक्ति मे एक अनूठी बातें कह देते हैं और अन्य पक्तियो मे उस भाव का विकास उत्तरोत्तर करते जाते है । यदि वह भाव अत्यत ही अतुलनीय हुआ तो फिर सूर चाहे उसका विकास न करें, किन्तु उसमे शिथिलता न आये ऐसा प्रयत्न करते है । अत की पक्ति मे कभी कभी किसी किसी पद मे इसका अपवाद समझना चाहिये । वैसे देखा जाय तो सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा बारह स्कधो मे कही है पर उनका उद्देश्य कथा कहने का नही था । सूरसागर उनके समय-समय पर रचे हुए पदो का क्रमबद्ध सग्रह है और सग्रह करते समय जो कथा छूट गई होगी, उस कथा को उन्होने बाद मे लिख दिया है । जो कुछ भी कथा कही है, उसका ढग यही है कि किसी एक पद में वे उसे वर्णन करते हैं और फिर उसी विषय के और छन्द कहते जाते हैं । वर्णन करते समय उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं रहता । उनके मन में जो भाव उदय होते है, या जिनका वर्णन करना उन्हें अभीष्ट होता है वे ही विषय वे रखते हैं; अन्य बातो से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं ।

सूर का भाव-पक्ष बडा ही प्रबल है । सूर ने विनय सम्बन्धी पद भी विशेषतः प्रथम एव द्वितीय स्कन्धो मे कहे है और तुलसी के समान उनमें भी पर्याप्त मात्रा में दैन्य और भक्ति प्राप्त होती है पर शृंगार,

सूर का भाव-पक्ष

वात्सल्य पर उनका प्रगाढ अधिकार स्वीकार करना पडता है। तुलसी यदि चाहते तो ऐसी रचना करने में समर्थ हो सकते थे; किन्तु हमें तो जो रचनाएँ हमारे समक्ष है उन्ही पर विचार करना है। इस दृष्टि से इस विषय पर तुलसी ने अधिक नहीं लिखा है, जो लिखा है वह भी सूर की कोटि के समकक्ष ही है। पर सूर वास्तव में सूर है। जो कुछ उन्होने लिखा है वह इतना पूर्ण है कि उस विषय पर अन्य रचनाए हलकी मालूम पडती है। इसे सभी विद्वान मानते है। सूर ने जीवन की सभी बातो पर प्रकाश नहीं डाला है, पर जितने पर डाला है उसका 'रिकार्ड' कोई भी, किसी भाषा का कवि भी उस विषय में प्रस्तुत नही कर सका। वात्सल्य और शृगार के मजुल भावो की जो व्यञ्जना सूर में मिलती है, वह अन्यत्र मिलना दुष्कर है। उनके दैन्य-सम्बन्धी पद भी अनोखे और अनुपम ही है। वियोग-वर्णन में सूर की वृत्तिया कितनी गहनता से तल्लीन हुई है, यह सहृदय विद्वान पुरुष ही जान सकता है। भ्रमरगीत की तुलना तो तत्सम्बन्धी किसी भी काव्य से नही हो सकती। नददास के भ्रमरगीत भी सुन्दर, भाव-पूर्ण और सरस है किन्तु उनका यह गुण केवल छोटी, थोड़ी रचना होने के कारण ही सूर से अधिक अच्छा जँचता है किन्तु सूर ने जितने मनोभावो का चित्रण किया है, उनका अल्पाश भी उसमें प्राप्त नही होता है। 'रत्नाकर' जी का उद्धव-शतक भी उत्तम काव्य है। उसमे मजुल व्यञ्जना है, पर सूर की गभीर हृदयगत एव मानसिक विवेचना उसमें कहां ?

यद्यपि सूर की भक्ति सख्यभाव की कही जाती है; किन्तु उनके विनय-सम्बन्धी पद देखकर, जो दैन्य भाव से परिपूर्ण है, यह नही कहा जा सकता। स्थान स्थान पर उन्होने दास्य भाव प्रकट किया है। कृष्ण की विभिन्न लीलाओ के वर्णनो को छोडकर जहा कही भी प्रसग आया

है, उन्हे सूर ने उपास्य देव कहकर ही प्रकट किया है। कही वे कहते है, 'प्रभुजी हौ पतितन कौ टीकौ।" कही कहते है, "हौं तो पतित-शिरोमणि माधा।" 'हरि हौं पतितन पतितेश।" "नाथ सको तो मोहि उधारी।" आदि-आदि। इन तथा इस प्रकार की अन्य पंक्तियो को लक्ष कर एव विनय-पत्रिका से समता कर कौन कह सकता है कि सूर में भी तुलसी के समान दास्य भाव नही है। इस भाव की कोई ऐसी मनोवृत्ति नही है जिसे सूर ने छोडी हो।

श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक का सूर ने बडा ही मनोहर चित्र खीचा है। बालकृष्ण का पलने मे पौढकर हाथ-पाव हिलाना, उसे देखकर इन्द्रादि का भयभीत होना। इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी को जो यह दोष दिया जाता है कि वे कथा प्रवाह के मध्य में भी राम को अवतारी पुरुष कहकर विरसता ला देते है, अन्य कवियो को इस दोष से मुक्त बताते है, यह निरर्थक है। सूर-सा खरी-खरी कहने वाला और स्वाभाविक वर्णन करने वाला भी यह नही भूलता है कि पालने मे पडा हुआ नन्हा सा-बालक भी अवतारी पुरुष है। यही बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे कुछ न कुछ अश में व्रज-बालाओ के, राधा के शृंगारिक प्रेम एव वियोग-वर्णन तथा भ्रमरगीतो मे भी देखने को मिलती है। जब कृष्ण कुछ बडे होते है और देहलीज के बाहर जाने लगते है, उस समय का वर्णन भी उत्कृष्ट और स्वभाविक है। उनका गो चरण और ग्वाल-बाल-प्रीति भी सराहनीय है। आगे जाकर उनका व्रजबालाओ के प्रति जो व्यवहार है, प्रेम क्रीडा है वह सुन्दर, मधुर, सरस, अलौकिक, आनन्दमय, भावविभोर करने वाली एव विदग्धता से भरी हुई अवश्य है, पर उसमें कई स्थलो पर विद्यापति के समान अत्यधिक अश्लीलता आ जाती है, जिसका प्रभाव परवर्ती कवियो पर अच्छा नही पडा। सूर ने तो इस थोडे- से कलक का परि-

हार ब्रज-वनिताओ का वियोग वर्णन कर एव भ्रमरगीत सदृश उपालभ काव्य लिखकर कर दिया है, पर दूसरो मे सूर की क्षमता न थी और इसीलिए उन्हे उलटी मुँह की खानी पडी। इन्ही प्रसगो के बीच सूर ने श्रीकृष्ण के रूप का भी बडा ही मनोहर वर्णन किया है। नख-शिख-वर्णन भी उनका बहुत अच्छा है। मुरली पर तो उनकी उक्तियाँ अनूठी ही है। सूर ने जिस प्रकार बालकृष्ण का वात्सल्य-पूर्ण और युवा कृष्ण का शृगारिक प्रेम से ओत-प्रोत वर्णन किया है, उसे चरम सीमा पर उन्होने वियोग-वर्णन और भ्रमरगीत मे पहुँचा दिया। कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐसा भाव नही जो सूर की दृष्टि से ओझल हो गया हो। सूर अपने विषय के पडित है। जिन विषयो को चाहे वे मानव-जीवन के कुछ ही भागो के क्यो न हो उन्होने उठाया है उन्हे अन्तिम सीमा पर ला रखा है। उससे अच्छा, सुन्दर, अनूठा, मरम, स्वाभाविक और सच्चा वर्णन और कोई नही कर सका है।

कला-पक्ष मे भी सूर का वही स्थान है जो भाव-पक्ष मे है। पदावली उनकी कोमल और सरस है और विद्यापति की पदावली से अधिकाश रचना की समता की जा सकती है यद्यपि सानुनासिक शब्दो का माधुर्य उतना नही है। समस्त रचना कूटो को छोडकर प्रसाद गुण-सम्पन्न है। वह लक्षणा और व्यजनादि से पूर्ण परिवेष्टित और प्राजलित है। उपमा और रूपक तो प्रत्येक

सूर का कला-पक्ष

पद मे प्रचुरता से पाये जाते है। "काम क्रोध को पहिरि चोलना, कठ विषय की माल सदृश रूपक वाले पद सूर और तुलसी ही में प्राप्त हो सकते है। उत्प्रेक्षाएँ भी सूर ने अच्छी कही है। किंतु कल्पना अनोखी और ऊँची है, पर हर एक स्थान पर जहाँ सूर ने उत्प्रेक्षा वाचक मानो आदि शब्द प्रयुक्त किये है, उत्प्रेक्षालकार मानना भ्रम-मूलक हो सकता है। अन्य अनेक अलकारो का समावेश भी समुचित रूप से हुआ

है। स्वाभावोक्ति तो उनकी समस्त रचना की और व्यंग भ्रमरगीत की मुख्य विशेषताएँ हैं। वहाँ यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि उनका समस्त काव्य संगीतमय है।

यद्यपि सूरसागर में सूर ने श्रीमद्भागवत की संपूर्ण कथा लिखने की चेष्टा की है; किन्तु यह तो सर्वमान्य है ही कि उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं था और न उनकी वृत्तियां ही कथा वर्णन में रँगी थीं। वे तो सरस गायक थे। कृष्ण के सदय भक्त थे। सच्चे कवि थे। उन्हें कथा से क्या प्रयोजन ? कथा कहना तो अपने विचारों को, भावों को प्रकट करने का वे साधन समझते थे। इसी भावोद्रेक में उन्होंने कृष्ण, नन्द, माता यशोदा, उद्धव तथा व्रजबालाओं के चरित्र को सरस, भाव-पूर्ण और हृदयग्राही चित्रित किया है। सूरसागर कथाग्रन्थ होते हुए भी कथा नहीं है। फिर चरित्र चित्रण कैसा ? यह प्रश्न किया जा सकता है। पर समस्त सूरसागर सहृदयता के साथ, भावुकता के साथ पढ़ जाने के बाद, सूर को समझ जाने के बाद यह बात निर्विवाद हृदयंगम हो जाती है कि सूर के उपस्थित किये हुए चित्र मार्मिक हैं, एक प्रवाह को लिए हुए हैं। उनमें विशिष्ट व्यक्तियों को पूर्ण स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। सूरसागर महाकाव्य नहीं, स्फुट काव्य है। तुलसी के सदृश कथोपकथन के द्वारा खड़े किये हुए पात्रों को सरस जीवन-घटनाओं से ओत-प्रोत है। अतएव एक साहित्यिक के लिए सूर के जीवित चित्रों में पर्याप्त रूप से ऐसी सामग्री है कि जिससे वह आनन्द-विभोर हो अपना मनोरंजन कर सकता है। उनका एक-एक पात्र अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

सूर का चरित्र-चित्रण

सूर के कृष्ण अवतार हैं। राम की भाँति उनका जन्म भी भू-भार उतारने के लिए हुआ है। उन्होंने पूतना, कंस आदि का वध भी किया

है; किन्तु इसके जन्म हितकारी रूप पर सूर ने कुछ ध्यान नही दिया, क्योंकि सूर के कृष्ण तो आनन्दातिरेक की मूर्ति हैं; प्रेम के प्रतीक है। वे अपनी स्वाभाविक क्रीडा से माता-पिता को, यशोदा और नन्द को ही नहीं, प्रत्येक माता-पिता को अलौकिक आनन्द देने वाले हैं। सूर कृष्ण के जीवन में देखते यही है। वे यथार्थतः पुत्र तो वसुदेव-देवकी के हैं, पर माता-पिता कहलाने का गौरव, उन पर ममता प्रदर्शित करने का श्रेय मिलता है नन्द और यशोदा को। भारतीय साहित्य की यही तो विशेषता रही है कि यहा साम्य में वैषम्य एव वैषम्य में साम्य की उद्भावना की जाती है। कृष्ण का विशाल चरित्र भी इसी की शिक्षा देता है। ज्यो ज्यो वे बड़े होते जाते हैं, वे पडोस के लोगो का भी चित्त चुराने लगते हैं। प्रत्येक नर-नारी उनकी रूप-माधुरी पर, उनकी अलौकिकता पर मुग्ध है। प्रेम की यह परिधि दिन-दिन बढती जाती है। और कृष्ण उत्पाती और माखन चोर के रूप मे दिखाई देते हैं। अवतार होते हुए भी नर-चरित्र कर रहे हैं। ब्रज-वसुधा को आनन्द देते हुए दिखाई देते है। जबसे वे पैदा हुए है, तभी से यही हाल है। लोक-रजनता के न देखने वाले विचार करें कि सूर ने उसका कितना ध्यान रखा है। एक क्षण भी कोई ब्रजवासी आनदातिरेक से मुक्त नही होता है। फिर कृष्ण और बढे होते हैं और शृगार के आलम्बन के रूप मे हमे दिखाई देते है। यह अवस्था भी बडी मादक है। सूर ने यद्यपि इस अवस्था का उद्भव कुछ शीघ्र कर दिया है, पर हमारी समझ से उनका ख्याल भी १३ से १८ वर्ष तक की अवस्था का ही रहा होगा। इस अवस्था मे बडी अद्भुत बेचैनी का अनुभव होता है— पुरुष ही को नहीं स्त्रियो को भी। यह अवस्था प्रौढा स्त्रियो पर भी मोहिनी डालने के लिए पर्याप्त है। भीगती मसो को देख उनका हृदय पचशरो से विद्ध होने लगता है। उन्हे अपनी पूर्व स्थिति की मृदुमय स्मृति विह्वल बनाने लगती है। इस समय समवयस्का भोली बालाएं

तो स्वय भी बेचैन रहती और उसी बेचैनी में सुखानुभव करती है; पर इस अवस्था से जन्य आनन्द उठा नही सकती। उत्पाती कृष्ण अब अपनी नई-नई सूझो मे बालाओ को ही तग विशेष आनन्दमय अर्थ मे नही करता, प्रौढाओ को भी तग करता हुआ दिखाई देता है। माता यशोदा के समक्ष अब माखनचोर के उलाहने का दूसरा अर्थ हो गया है। पहिले की माखनचोरी मे और इस माखनचोरी में आकाश पाताल का अन्तर है। यह गो-रस (गो–इन्द्रिय) चोरी है। अब इसी का बाजार गर्म है। इसी हेतु कही किसी के सूने गृह में पहुँचते, कही दान मागते और कही चीर-हरण करते है। यदि सूर इतना ही कहकर चुप रह जाते तो अवश्य उनके सिर भी अश्लीलता का दोष मढ़ा जाता पर सूर वहा भी पहुँचे हैं, जहा कोमल मर्मस्थल हैं। सूर ने वियोगावस्था का भी बडा ही मार्मिक चित्र खीचा है। यहा कृष्ण को हम मथुरा में पाते हैं। विशेषतः जिस कार्य के लिए उनका अवतार हुआ उस की पूर्ति हो जाती है; पर सूर को उससे क्या? वे तो यहा से हटाकर कृष्ण को गोपियो के हृदय में 'टेढे गड़े हुए' दिखाते है। कृष्ण का रूप देखने के लिए अब हमे वही चलना चाहिए। वे उद्धव का ज्ञान-गर्व हटाने एव व्रजबालाओ को कुछ सात्वना देने, उद्धव के द्वारा सदेश भेजते है। इसीके साथ हमें कृष्ण का वह मनोमुग्धकारी रूप भी दिखाई देता है जब वे अपनी 'धौरी-पीरी गायो' का, व्रजनागरियो का सकरुण हो स्मरण करते है।

व्रजबालाएँ

व्रज वधुएँ भोली-भाली रसवती स्त्रियाँ हैं। कृष्ण-जन्म पर उन्हे बडा आनन्द होता है। वे कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं। बार-बार नन्द के यहाँ बालकृष्ण को देखने के लिये आती हैं। आनन्द-बधावे गाती हैं। उनके बडे होने पर उत्पात करने पर बनावटी उलहने लाती है, ताकि श्रीकृष्ण को एक बार और देख सकें। श्रीकृष्ण के कुछ बडे होने पर वे उनके

साथ शृंगारिक प्रेम में उन्मत्त-सी बनी रहती है। उन्हे देखे बिना, उनसे मिले बिना उन्हें कुछ अच्छा ही नही लगता, किन्तु उनका सच्चा प्रेम तो तब देखने को मिलता है जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। अब उन्हे कुछ नही सुहाता। वनो-वनो मे मारी-मारी फिरती हैं, कोई कुएँ पर जाती है तो वही बेसुध होकर बैठ रहती है और घर आने पर सास-ननद की डाँट फटकार सुनती है। नदी का नहाना, कुजो मे आनन्द के साथ क्रीडा करना सब अब बीते दिन की बातें हो गईं। खाना पीना दूभर हो गया। घर मे उठना बैठना तक अच्छा नहीं लगता। कृष्ण का प्रत्येक क्रीडास्थल उन्हे काट खाने लगा। श्यामवर्ण अक्रूर के द्वारा कृष्ण का लिवा ले जाना उन्हे बुरा लगता ही था कि उसी वर्ण के उद्धव महाराज अपनी 'निर्गुण की गाँठ, लेकर व्रजवनिताओ के हृदय से 'बनिज' करने के लिए आ पहुँचे और उन्हे निर्गुण परमात्मा का उपदेश देने लगे। पर इसका भोली-भाली व्रजवनिताओ पर क्या प्रभाव पड सकता था। उनका मन तो श्रीकृष्ण के साथ पहिले ही मथुरा चला गया था। कोई 'दस बीस मन, तो थे नही। कृष्ण फिर हृदय मे टेढे होकर गढ गये,। सीधे गड़े होते तो निकल सकते थे। वे पहले से ही अपने दुःख की मारी मर रही थी; उद्धव का आना तो और भी दु.खप्रद हो गया। मरे को मारे शाह मदार! पर जब कोई अत्यन्त दु.खी हो और दूसरा कोई अटपटी बात कर दे तो हँसी आ जाती है। बस यही दशा ब्रज की स्त्रियो की है। बार-बार उद्धव से अपनी दशा कहने पर भी जब वे निर्गुण का उपदेश अपनी धुन में देते चले जाते है तब उन्हे हँसी आ जाती है। उन्हे 'काली करतूतो, का खूब अनुभव था। कृष्ण काले थे। अक्रूर काले थे और उद्धव महाराज भी कृष्णवर्ण ही थे। भला इनकी उन्हे क्यो प्रतीति होने लगी। अन्त तक उनका यही आग्रह रहता है कि हमें तो कृष्ण का सगुण रूप दिखाओ बार-बार वे पपीहे से, कोयल

से कृष्ण को संदेशा भेजकर मथुरा से गोकुल आने की प्रार्थना करती हुई दिखाई देती है। कुब्जा के प्रति भी उनकी कुछ कुढ़न है। उन्हे बार-बार यही आता है कि कृष्ण कहाँ तो हमारे साथ इतने समय तक प्रेमालाप करते रहे और कहाँ अब कुब्जा को प्रेम पीयूष पिला रहे हैं। इस प्रेम का कुब्जा को भी बड़ा गर्व था जैसा कि उसके संदेशे से, जो उसने उद्धव के द्वारा गोपियों को भेजा था, प्रकट होता है।

नन्द का चरित्र बहुत कुछ यशोदा के चरित्र में सन्निहित-सा है। सूर ने उनके चरित्र की विशद व्याख्या नही की है। जननी यशोदा का चरित्र पूर्ण मातृत्व लिये हुए है। वे जानती है कि कृष्ण मेरा उदरजात

माता यशोदा और नन्द

पुत्र नही है फिर भी उनपर उनका अटूट, अविरल प्रेम है,। वात्सल्य है यशोदा के लिए कृष्ण अवतारी नही, उनका छौना ही है। माता की ममता की तो वे प्रतीक है। जिस समय से कृष्ण उनकी अग की शोभा बढाने लगे तभी से वे उनके अग हो गये। पैदा होते ही भाँति-भाँति के मगलाचारो की सृष्टि होने लगी। कनक-जटित पालने के लिए चतुर सुतार को आज्ञा दे दी गई और उसे यह भली भाँति समझा दिया गया कि अमुक अमुक प्रमाण का पालना तैयार करना आवश्यक है। कृष्ण कन्हैया पूरे दो महीने के न हो पाये कि उनके हृदय मे यह अभिलाषा हिलोर मारने लगी कि कब मेरा लाल बैठेगा ? 'घुटरुअन' चलेगा। घुटरुअन चलने लगा तो यह आकाक्षा होने लगी कि कब 'पैजनिएँ पहिनकर चलेगा' ? उनमें बराबर चलने की सामर्थ्य आही न पाई थी कि आज्ञा हुई कि, 'पैजनिया गढ लाहु रे सुनार। साथ ही अन्न-प्राशन आदि संस्कार भी यशोदा बड़े उत्साह से मनाया करती है। कुछ खेलने लायक हुए तो पड़ोस के ग्वाल-बालो को उनके साथ खेलने को बुलाया जाने लगा। कुछ समय पश्चात तो द्वार के बाहर भी वे जाने लगे और फिर वे अनेक

कौतुक मा को दिखाने लगे। मा के पास बार-बार उलाहना आना शुरु हो गया। माता यशोदा कभी उन्हें डाटती और कभी खीझकर पीटती थी। एक दिन तो उन्हे ऊखल से कस दिया, जिससे यमलार्जुन का उद्धार हुआ। उनके हठ करने पर एक दिन उन्हे कृष्ण को गो-चारण की आज्ञा देनी पडी। बडे तडके से वहाँ भेजने की तैयारी होने लगी कृष्ण जगल में चले गये। दिन भर माता बडी व्याकुल रही। कुछ और बडे होने पर तरह-तरह के व्रज युवतियो के उलाहने भी आने लगे। इस पर मा अपने कन्हैया को छोटा कह शिकायत करनेवालियों को बुरी भली सुना देती। अक्रूर के आने पर हृदय पर पत्थर रख अपने कुँवर कन्हैया को सौप देती है, इसी आशा से कि शीघ्र उनका लाड़ला वापिस आयेगा। पर कृष्ण राज काज की झझटों मे इतने फँसे है कि वापिस नही लौट सके। इस पर बार बार उन्हे अफसोस होता है और यह खीज उतरती है नद पर। नद को वे बार-बार जाने के लिए प्रेरित करती है; पर नद मथुरा से वापिस बिना कृष्ण के लौट आते है। यहाँ से तो उनकी समस्त आशाओ पर पानी पड जाता है और दुःख बहुत ही बढ जाता है। अन्त में जब उद्धव के द्वारा वे देवकी के पास सदेश भेजती है, तब तो मातृ-ममत्व छलक ही पडता है। 'भोर ही भुखात हुई है, कद मूल खात है।, के समान वे कहती है कि 'मै तो धाय तुम्हार सुत की,। जो मर्म-व्यथा शब्दो की राह उतर पडती है, उसे मा का हृदय ही जान सकता है।

(श्रद्धेय प० रामचन्द्रजी शुक्ल ने एक शका उठाई है कि गोकुल और मथुरा के इतने निकट होने पर यशोदा तथा अन्य व्रज की स्त्रियो का वियोग दुःख अस्वाभाविक है। गाँव से ५-६ मील दूरी पर आजकल भी जब कोई ग्राम्य-बालक किसी बडे शहर को जाता है, तो माताओ का हृदय शकित, भयभीत और दुःखी रहता है। फिर आज से २००

वर्ष पूर्व जब रेलादि के साधन नही थे, उनको कितनी चिन्ता रहती होगी? जबकि मथुरा शहर ही नही एक बडी राजधानी थी। फिर उन्हें यह ज्ञात ही था कि कस श्रीकृष्ण-वध के लिए अनेक उपाय रच चुका है। कस वध के पश्चात अवश्य उनका वियोग-जन्य दुख उतना नही रह जाता है।)

इस समय उनमें घोर निराशा के भाव का उदय होता है। कृष्ण अब उनका वह लाडला ग्रामीण कुमार नही है जो व्रज की गलियो में उत्पात मचाया करता था। आज तो राजा ही नही; राजनैतिक उथल पुथल: क्राति जन्य अवस्था को जमानेवाला शासक भी है। कस-वध के पश्चात् श्रीकृष्ण से उनके मिलने में यही बडी बाधा थी। नन्दजी को उन्होंने कुशल-समाचार प्राप्त करने भेजा भी था। किन्तु परिस्थितियाँ इतनी विकट थी कि कृष्ण माता यशोदाजी से मिलने का उत्सुकता दिखाते हुए भी एक क्षण के लिए मथुरा छोडने मे असमर्थ थे। माता यशोदा की निराशा इसलिए भी थी कि अब कृष्ण राजपुत्र था। कृष्ण से मिलने मे उन्हे सकोच होना केवल सासारिक ही नहीं, एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, यद्यपि दोनो एक दूसरे को अत्यन्त और हृदय से चाहते थे। फिर स्थानातर और समयान्तर भी सासारिक दृष्टि से प्रेम में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। ऐसी आकाक्षा क्षीणरूप से अवश्य यशोदाजी के हृदय में रही होगी, वह पुनर्मिलन तक तो अवश्य रही ही होगी।

उद्धव कृष्ण के मित्र थे। गोपियो को सान्त्वना देने के लिए श्रीकृष्ण ने इन्हे गोकुल भेजा था। एक कारण और था। इन्हे अपने निर्गुण परमात्मा विषयक ज्ञान का गर्व हो गया था। इस हेतु भी ये

उद्धव | व्रज में पठाये गये थे, ताकि गोपियो की अनन्य भक्ति और प्रेम देखकर उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करे। वहाँ पहुँचकर इन्होने अपना ज्ञान-गर्व प्रकट करना प्रारभ कर दिया;

किंतु वह चिकने घड़े पर पानी के समान भक्ति के प्रवाह में वह गया। अंत में गोपियों का एकरस प्रेम और अविचलित प्रभाव इन पर पड़ा। इन्होंने कृष्ण से उनकी भक्ति की प्रार्थना की।

सूर को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि उस प्रभाव को एक निगाह देखा जाय जो उनके पूर्ववर्ती कवियों का उन पर पड़ा है, तथा परवर्ती कवियों पर जो प्रभाव वे छोड़ गये हैं।

विद्यापति एक सच्चे भावुक, सहृदय शृंगारिक कवि हुए हैं। उनका भाषा-माधुर्य, संस्कृत की पदावली का अनुकरण अनुपमेय है। भावों की सरस लहरी जो विद्यापति ने बहाई है, उससे मिथिला के रंग-

सूर और विद्यापति

रंग में जीवन-स्रोत प्रवाहित हो रहा है। उनकी भाषा और भावों के कारण ही बंग विद्वान विद्यापति को अपना आदि कवि मानते रहे हैं। विद्यापति की विशेषता यही है कि उन्होंने सदा अनवरत बहनेवाली शृंगार-रस की धारा बहाई है। संस्कृत-साहित्य में जैसे जयदेव शृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी तरह हिन्दी में कोमल कांत-पदावली लाने का श्रेय एक विद्यापति को है। विद्यापति ने पदों में अपने भावों का स्रोत बहाया है। उनके समस्त पद गेय और संगीत के नियमों के अनुकूल हैं। वे राधाकृष्ण के रूप में, निस्संकोच होकर, यहाँ तक कि अश्लीलता का डर त्याग कर भी शृंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। राधाकृष्ण के वर्णन में 'अभिनव जयदेव' (विद्यापति) ने राधा के नन्हे-नन्हे, 'बेर से कुचों' का वर्णन तो क्या 'अभिसार' तक का वर्णन किया है, पर उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने सरस माधुर्य-पूर्ण कोकली भाषा में शृंगारिक भावों की बड़ी विमल धारा प्रवाहित की है। शृंगार-रस-संबंधी कोई घटना, कोई भाव उनसे अछूता नहीं रहा है। अब सूर को लिया जाय। सूर में भी वही सीधा, सच्चा कहने

का ढग है । जो माधुरी व्रजभाषा के द्वारा पाई जाती है वह भी स्वाभाविक है । इसी प्रकार उनके पद गेय, राधाकृष्ण की भक्ति से समन्वित और कहीं-कहीं अश्लीलता को प्रश्रय देते हुए पाये जाते है । वास्तव में देखा जाय तो विद्यापति का सूर पर पूरा-पूरा प्रभाव लक्षित होता है । भाव-साम्य को तो जाने दीजिये, जैसे-जैसे विद्यापति को समझते जायँगे, उनके काव्य का अध्ययन करते जायँगे, सूर की तल्लीनता, भाषा, भाव, आदि मे उन्ही का प्रतिबिंब दीख पड़ेगा । इष्टदेव तो दोनो के एक हैं ही अन्तर केवल इतना है कि जहाँ विद्यापति ने शृंगार के अवलंबन के हेतु उन्हे चुना है, वहा सूर ने भक्ति की अनन्यता मे उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित किया है । शैली की विशेषता ही यह है कि उसका एक ही पद कवि के समस्त भावों का केन्द्र रहता है । यही बात समान रूप से दोनो में पाई जाती है । विद्यापति यथार्थ चित्रण के नाम पर जो चाहे कृष्ण और राधा को लक्ष्य कर कह डालते है। वही बात हम सूर में भी पाते हैं। सूर यद्यपि भक्त है पर उसकी चरम सीमा पर, उसके आवेश मे वे कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते, जैसे एक लँगोटिया मित्र एक मित्र को । कबीर मे धार्मिक अल्हड़पन था । इन दोनो में साहित्यिक । विद्यापति और सूर मे यही तो खूबी है कि हृदय के भावो के आवेग मे जो धारा फूटेगी, उसके वेग को वे रोकेंगे नही, मोड़ेगे नही । सूर पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है । यह मै केवल इसलिए नही कह रहा हूँ कि सूर विद्यापति के बाद के कवि है, पर मुझे तो सूर में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नजर आता है । इसका आशय यह नही कि सूर ने विद्यापति का भावापहरण किया है । भाव-साम्य है । सूर में स्वाभाविक अनुकरण है, पर रस दोनो मे हृदय-तल से ही प्रवाहित हुआ है, यह तो मानना ही होगा ।

कबीर का भी किसी न किसी अंश मे सूर पर प्रभाव लक्षित होता

है, यह भी इसलिए नही कि कबीर पूर्ववर्त्ती कवि है, किन्तु इसलिए कि कबीर-सा सत्यकथन सूर में भी पाया जाता है। पूर्ववर्ती कवियो का

सूर और कबीर

पूर्ववर्त्ती कवियो पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और पहिले के काव्यो से लाभ न उठाना एक बड़ी भारी भूल है। सूर ने दृष्टिकूटो की रचना कदाचित कबीर की उलटवासियो के अनुकरण पर की है। अन्तर केवल यह है कि जहा कबीर गहनतम आध्यात्मिक भावो को प्रदर्शित करने के लिए गूढ और उल्टे कथन करते हैं, वहा सूर गहन शृगारिक भावो और साहित्यिक, धार्मिक, शाब्दिक ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए। जनता इस प्रकार के कथनो को समझने मे यद्यपि असमर्थ रहती है। पर ऐसे कथनो का उस पर खूब प्रभाव पडता है। ऐसे कथनकार को वह बड़ा विद्वान या साधु-महात्मा समझ बैठती है। साधारण लोग जनता की इस प्रवृति से बड़ा लाभ उठाते है; यद्यपि कबीर और सूर का यह उद्देश्य नही था। कबीर उल्टे कथन अतर्प्रवृत्ति की पुकार पर करते थे और सूर ने कुछ अशो में, पाडित्य-प्रदर्शन एव साहित्यिक ज्ञान के परिचय के हेतु ऐसा किया है। कभी-कभी अनुद्देश्य भी कोई अनुकरण चला करता है और कभी गुप्त, गहन, अप्रकट-योग्य विचारो को प्रकट करने के लिए। सूर ने कदाचित् इसी कारण अनुकरण किया है। अन्य बातों मे केवल कबीर का खरापन, सत्य-कथन, अपनी बात को साहस के साथ कहना ही सूर ने ग्रहण किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूर ने कबीर की भाषा को विकास की उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा दिया। कबीर के भावो को भक्ति की ओर, निर्गुण भावना को सगुण भावना की ओर, और आध्यात्मिक उल्टे कथनो को साहित्यिक आवरणो की ओर झुका दिया था। सूर ने कबीर से जो ग्रहण किया, उसे ऐसा आत्मसात् किया कि उनकी रचनाओ में उसे पाना दुष्कर है।

सूर और तुलसी में समता और विषमता दोनो मिलती है। संस्कृत के आद्य कवि वाल्मीकि के समान दोनो हिंदी के आद्य महाकवि है, जिनकी प्रतिभा ने हिंदी-साहित्य को अलकृत ही ही किया, उसमे वृद्धि ही नही की, प्रत्युत उसे अमर बनाया है। केवल इन दो महाकवियो की रचना से ही हिंदी-साहित्य अमर होने की क्षमता रखता है। सूर और तुलसी दोनो सच्चे भक्त थे। एक कृष्ण के तो दूसरे राम के। दोनों प्रतिभाशाली, दोनो विद्वान् और इष्टदेव के रँग में रगे हुए। ऐसे रग में कि ससार ही उन्हे उनमय दिखाई दिया। वे जिये तो उनके लिए और मरे तो उनके लिए। उनके धर्म-कर्म, सिद्धान्त, ज्ञान-गौरव सब कृष्ण-राम ही थे। दोनो समकालीन भी थे। सूर भक्त और कवि है, पर तुलसी भक्त और कवि नही। भक्त और कवि से महत लोक दृष्टि के सँपोषक व्यक्ति। सूर अपने इष्टदेव के सखापन और कवित्व को लेकर उतरे, तुलसी राम के दासत्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर। सूर वर्णन करने की एव ससार के मनोरजक, काव्योपयोगी विषयो को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति से समन्वित है तो तुलसी मे लोकदृष्टि और प्रकाड पाडित्य है। सूर ने जिस विषय का वर्णन किया उसे एक गेय पद के दायरे में पूर्णता से भर दिया। तुलसी ने जिस पर लेखनी चलाई उसमें कोई अग अछूता नही छोडा। सूर ने कुछ पेटेट विषय वर्णन के लिए लिये हैं और उन्हे उनकी चरम सीमा पर पहुँचा अपनी कलम का कमाल दिखाया है; पर तुलसी से कोई विषय ऐसा नही छूटा है, कोई अग ऐसा शेष नही है जिस पर उनकी निज की कोई छाप न हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी किसी स्पर्द्धा या प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। सूर यह प्रकट करना चाहते थे कि जिस विषय पर मे लिख रहा हूँ उस पर कोई लिख ही नही सकता; और तुलसी यह कि

सूर और तुलसी

तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी समता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकार से लिख सकता हूँ, जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पड़ेगा कि तुलसी सूर से बहुलांश में प्रभावित हुए हैं। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ में। शायद सूर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही तुलसी ब्रजभाषा में भी अपनी कुछ रचना अमर कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते हैं। वे गेय भी हैं और राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावली को अपनाया है। सूर ने स्वाभविक रूप से अपनी धारा को उद्गमित होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का का वर्णन करते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक में वह इतना क्षीण और धुंधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नहीं हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए हैं, यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात् का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप में ऋण न लिया हो। किसी ने भाव, किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसी ने भाषा, किसी ने वर्णन और किसी ने शैली। कुछ अन्य प्रमुख कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा-भाव आदि के लिए महाकवि सूर के ही ऋणी दीख पड़ेंगे।

सूर और हिन्दी-साहित्य के भक्त तथा अन्य कवि

मीरा के कई पदों में सूर के पदों के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा में जहां भक्ति के आवेश का उच्छ्‌वास है, वहाँ किसी न किसी रूप में सूर के भावों का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुछ-

सूर और तुलसी में समता और विषमता दोनों मिलती है। संस्कृत के आद्य कवि वाल्मीकि के समान दोनो हिंदी के आद्य महाकवि है, जिनकी प्रतिभा ने हिंदी-साहित्य को अलंकृत ही नहीं किया, उसमें

सूर और तुलसी

वृद्धि ही नहीं की, प्रत्युत उसे अमर बनाया है। केवल इन दो महाकवियों की रचना से ही हिंदी-साहित्य अमर होने की क्षमता रखता है। सूर और तुलसी दोनो सच्चे भक्त थे। एक कृष्ण के तो दूसरे राम के। दोनों प्रतिभाशाली, दोनो विद्वान् और इष्टदेव के रँग मे रगे हुए। ऐसे रग मे कि संसार ही उन्हे उनमय दिखाई दिया। वे जिये तो उनके लिए और मरे तो उनके लिए। उनके धर्म-कर्म, सिद्धान्त, ज्ञान-गौरव सब कृष्ण-राम ही थे। दोनो समकालीन भी थे। सूर भक्त और कवि हैं, पर तुलसी भक्त और कवि नहीं। भक्त और कवि से महत लोक दृष्टि के संपोषक व्यक्ति। सूर अपने इष्टदेव के सखापन और कवित्व को लेकर उतरे, तुलसी राम के दासत्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर। सूर वर्णन करने की एवं संसार के मनोरंजक, काव्योपयोगी विषयो को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति से समन्वित है तो तुलसी मे लोकदृष्टि और प्रकांड पांडित्य है। सूर ने जिस विषय का वर्णन किया उसे एक गेय पद के दायरे में पूर्णता से भर दिया। तुलसी ने जिस पर लेखनी चलाई उसमें कोई अंग अछूता नहीं छोडा। सूर ने कुछ पेटेंट विषय वर्णन के लिए लिये हैं और उन्हे उनकी चरम सीमा पर पहुँचा अपनी कलम का कमाल दिखाया है; पर तुलसी से कोई विषय ऐसा नही छूटा है, कोई अंग ऐसा शेष नहीं है जिस पर उनकी निज की कोई छाप न हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी किसी स्पर्द्धा या प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। सूर यह प्रकट करना चाहते थे कि जिस विषय पर मै लिख रहा हूँ उस पर कोई लिख ही नही सकता; और तुलसी यह कि

तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी क्षमता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकार से लिख सकता हूँ, जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पड़ेगा कि तुलसी सूर से बहुलांश में प्रभावित हुए हैं। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ में। शायद सूर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही तुलसी व्रजभाषा में भी अपनी कुछ रचना सम्पन्न कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते हैं। वे गेय भी हैं और राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावली को अपनाया है। सूर ने स्वाभाविक रूप से अपनी धारा को उद्गमित होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का का वर्णन करते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक में वह इतना क्षीण और धुंधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नहीं हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए हैं, यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप में ऋण न लिया हो। किसी ने भाव, किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसी ने भाषा, किसी ने वर्णन और किसी ने शैली। कुछ अन्य प्रमुख कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा-भाव आदि के लिए महाकवि सूर के ही ऋणी दीख पड़ेंगे।

सूर और हिन्दी-साहित्य के भक्त तथा अन्य कवि

मीरा के कई पदों में सूर के पदों के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा में जहा भक्ति के आवेश का उत्थान है, वहीं किसी न किसी रूप में सूर के भावों का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुछ-

नता से उसे पति-भक्ति की ओर मोड़ दिया है।

मतिराम, रसखान आदि कवि उन कवि-श्रेष्ठो में से आते हैं, जिन्होने सूर की भाषा और भाव ग्रहण कर, मुक्तक छन्दो में सफलता पूर्वक उनके सौंदर्य की रक्षा की है। मतिराम ने तो भावो को ग्रहण कर बहुत कुछ दूसरा रूप दे डाला है, पर कौशल और प्रतिभा के साथ-रसखान तो रस की खानि सूर के ही सरस पदो की माधरी को उनसे निचोड और सवैयो में उसे सजा गये है। इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्होने सूर का अध्ययन किया था और चालू भाषा और छन्दों मे उनके भावो को ढाला था। साधारण जनता सूर की कलात्मक प्रवृत्ति और विस्तृत साहित्य-सागर में पैठने की असमर्थता के कारण उन्हे तो पहचान न सकी, पर जिन कवियो ने सूर से भावो को ग्रहण कर दूसरे रूप मे जनता की मनोवृत्ति के अनुरूप रखा, उन पर जनता मुग्ध हो गई। रसखानि इसी श्रेणी के कवियों मे आते है। इन्होने बडी खूबी से सूर के भावो को अपना कर जन-सम्मान प्राप्त किया है। इधर अयोध्यासिंह उपाध्याय और रत्नाकरजी ने भी उन्ही विषयो पर लेखनी चलाई है और बहुत कुछ सफल हुए है। उपाध्यायजी का प्रिय-प्रवास वास्तव में काव्य-माधुर्य से ओत-प्रोत है और उसमे विरह वर्णन बडी विशदता से किया गया है। उसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वह खड़ी बोली में नये रूप मे रखा है, पर उपाध्यायजी ने इसमें अपनी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग किया है। 'रत्नाकरजी' ने भी उसी ढग पर 'उद्धव-शतक' की रचना की है। इसमें व्यग्य, चोज और ओज, उक्तियाँ और मनोरजक कथोपकथन बहुत अच्छे है, पर उसमे न तो सूर का माधुर्य ही है और न सूर की स्वाभाविकता। प्रवाह और व्यग्य अवश्य है। नन्ददास और सूर में भी कुछ अशो में समता हो सकती है। अष्टछाप के कवियो में सूर के पश्चात् इन्ही की गणना होती थी।

सम्प्रदाय की दृष्टि से तो दोनो कवि एक है ही, पर साहित्य-रचना की दृष्टि से भी दोनो में बहुत साम्य है। रास-पंचाध्यायी में नन्ददास के जो सिद्धात है वही सूरसागर में सूर के। सूर के भ्रमरगीतो और नन्ददास के भ्रमरगीता मे भी बड़ा साम्य है। नंददास ने कुछ पंक्तियाँ सूर के मुकाबिले में लिखी है, पर जो है वे उत्तम है. सरस धार्मिक और विदग्ध है। उनमें यद्यपि सूर जैसा विस्तार, विभिन्न भावो का संनिवेश नही है, पर उत्कृष्टता तो उनमें है ही।

वात्सल्य-रस का जैसा मनोमुग्धकारी वर्णन सूर ने किया है वह हिन्दी, संस्कृत या अन्य भाषाओ मे भी कठिनता से ही प्राप्त होता है। कालिदास का वात्सल्य-रस पर केवल एक छंद मिलता है, वह भी सूर के किसी उत्कृष्ट पद की समता नही कर सकता।

सूर और आंग्ल कवि

अंग्रेजी साहित्य मे तो इसका अभाव-सा ही है। कहीं कही अवश्य इस विषय पर कोई काव्य दृष्टिगोचर हो जाता है, पर जितनी विशद व्याख्या सूर मे मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमर ने यद्यपि एक स्थान पर 'ओडेसी' नामक काव्य में थोडा वर्णन अवश्य किया है। वात्सल्य-रस में तो संसार का कोई भी कवि सूर की जरा भी समता नही कर सकता। लागफेलो शिशु का गुणगान अवश्य करता है। लागफेलो की वे पंक्तियाँ इस प्रकार है

> "You are better than all ballads,
> That ever were sung or said!
> For ye are the living poems,
> And all the rest are deads."

शृंगार-रस पर अवश्य प्रचुरता से आंग्ल-साहित्य मिलता है, पर ब्रजभाषा की भक्ति, अनन्यता और भारतीय दृष्टिकोण से देखने पर आंग्ल-साहित्य भी फीका लगता है। प्रकृति-वर्णन में अवश्य वह सूर की समता कर सकता है, पर उसकी और सूर की वर्णन-शैली में महान

अतर हैं । सूर जिस प्रकार प्रकृति को देखते है, आग्ल कवि नही । और आग्ल कवि जिस प्रकार देखते है उस प्रकार सूर आज से ३५० वर्ष पूर्व नही देख सकते थे । कीट्स, शैली, बायरन, वर्डसवर्थ आदि की समता कुछ अशो में सूर से की जा सकती है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही विश्व कवि श्रेष्ठो में ऐसे लेखक दिखाई देते है, जिन्होने बड़ी ही सरलता, सरसता एव स्वाभाविकता से वात्सल्य-रस को अपनाया है और उसे आधुनिकतम रूप दिया है। इस विश्व-वद्य कवि ने वात्सल्य को अपनाकर भारतीय साहित्य एव सस्कृति की समुचित रूप से रक्षा की है। सूर-सा सौंदर्य, निखरापन, वर्णन की सजीवता एव स्वाभाविकता एक इन्ही महाकवि में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विश्व कवि का वर्णन बाह्य (Matter) का है। बालहृदयोचित सारल्य पूर्ण है; किन्तु बालोचित प्रत्येक कथन उतना स्वाभाविक नही है । कही-कही तो वे अस्वाभाविक भी हो गये है । सूर का बालक जहाँ शिशु ही रहता है, वहाँ रविबाबू का शिशु बालक दिखाई देता है । कम वय के बालक से विभिन्न कल्पनात्मक कथन कभी-कभी उतने हृदयस्पर्शी नही होते। रविबाबू का बालक अपनी अवस्था से प्रौढ और विद्वान-सा दिखाई देता है, यद्यपि कभी-कभी यह अवश्य देखने में आता है कि बालको के मस्तिष्क में भी अनोखी सूझें, कथन और कल्पनाएँ लहराया करती है । उत्तम पुरुष में लिखने के कारण ही कदाचित कतिपय अस्वाभाविक कल्पनाएँ उनकी कला में रँग आई है । फिर सूर-सा सर्वांग पूर्ण वात्सल्य-निदर्शन भी रविबाबू में नही है; किंतु वे मनोमुग्धकारी और विदग्ध होती है । ऐसा ही कुछ कल्पनात्मक रूप रविबाबू में मिलता है ।

वह भादो की अँधेरी काली रात थी, जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म हुआ । चारो ओर भय का साम्राज्य छाया था । बड़ी कठिनता से गर्भ

छिपाया गया । वासुदेव और देवकी बंदीगृह में परतन्त्र थे । ऐसी अवस्था

सूर के वात्सल्य रस का परिचय

में, ऐसी भीषण परिस्थिति में, कंस का नाश करने के लिए कृष्ण का जन्म हुआ था । जब वह दिव्य आत्मा उदर से बाहर निकली, माता-पिता ने उसे स्तंभित हो देखा, छाती से लगाया और हृदय पर पत्थर रख उसे गोकुल में ले जाकर नंद और यशोदा की गोद में पौढ़ा आये । इसके पश्चात् सूर की छटा, उनकी लेखनी का कमाल, उनकी प्रतिभा की कांति, उन के कवि हृदय की मार्मिकता देखते ही बनती है ।

गांव भर में विदित हो गया कि यशोदा को पुत्र प्राप्ति हुई है । नंद के घर विविध बाजे बज रहे हैं । उनकी मंगल-ध्वनि शहर में छाई हुई है । घर बाहर बधाई के गीत गाये जा रहे हैं । याचक-गणों के झुण्ड के झुण्ड आज नंद के द्वार पर आकर इकट्ठे हो गये हैं । जो याचक जो वस्तु, धन, वस्त्रादि चाहता है उसे उससे अधिक मिल जाता है । सब हर्षित हो होकर वापिस लौटते हैं । गाँव भर की स्त्रियों में अप्रतिम उत्साह छाया हुआ है । जहाँ तहाँ केवल आनन्द और उत्साह के अतिरिक्त कुछ दृष्टि ही नहीं पड़ता । बालकृष्ण के दर्शन की लालसा से ग्राम की स्त्रियाँ नंद के घर आ रही हैं और उनकी मनोहर दिव्य छवि को देख-कर अपना जन्म सफल कर रही हैं । इस समय किसी को, बालकृष्ण के दर्शन के अतिरिक्त, अन्य कोई अभिलाषा नहीं है । कई स्त्री-पुरुष तो याचक बनकर ही नंद के द्वार पर इसलिये आ बैठे हैं कि वे दर्शन पायें । नंद उनसे पूछते हैं भाई तुम्हें क्या चाहिये ? धन-सम्पत्ति मणि मुक्ता क्या चाहिये ? वे उत्तर देते हैं महाराज, हमें कृष्ण के दर्शन के अति-रिक्त और कोई कामना नहीं है । सूर की सरस रचना यहाँ बड़ी हृदय-ग्राही हो गई है । (राम और केवट का गंगा-पार होने से प्रथम के वार्तालाप का स्मरण कराती है । यद्यपि सूर ने उतना लंबा चित्र नहीं

खींचा है। कुछ दो-चार तूलिकाएँ ही चलाई है तथापि वह भी कम चित्ताकर्षक नहीं है) जिन स्त्रियों ने काम आरम्भ नहीं किया था वे तो तो भागी ही गई, पर जो काम कर रही थी, वे भी जल्दी गृह-कार्य समाप्त कर भागी। कोई स्त्री खेत में जाते-जाते रुक गई। कोई दूध-दही बेचने गलियों में फिर रही थी वहीं से लौटकर नंद के द्वारे आ पहुँचीं। सब स्त्री पुरुष आनन्द-विभोर हो नाचते-गाते नंद के द्वार पर पहुँच रहे हैं। बस नगर भर मे एक धुन है, एक बात है, एक काम है। खाना पीना सब बिसर गया है। नंद यशोदा को क्षणमात्र का अवकाश नहीं। ऐसे समय देवता भी क्यों चूकते! वे आकाश में अपने विमानों पर बैठकर हर्ष-ध्वनि करते हुए पुष्प वर्षा करने लगे।

एक स्त्री दूसरी से कह रही है कि आज नन्द के यहां पुत्र हुआ है। वन में मत जाओ। स्त्री पुरुष वहीं जा रहे हैं। उसी आनन्दातिरेक का वर्णन है

"आज वन कोऊ जिन जाइ।
सबै गाय और बछरा समेत सब आनहु चित्र बनाइ॥
ढोटा है रे भयो महरि के कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहिं घोष में भयो कोलाहल आनन्द उर न समाइ॥
कत हौ गहरु करत रे भैया बेगि चलो उठि धाइ।
अपने अपने मन को चीत्यो नैननि देखौ आइ" ॥

नन्द के द्वार भीड़ मची हुई है। लोग नाना भाँति से आनंद मना रहे है। नन्द वस्त्राभूषण बाट रहे हैं

"आजु नन्द के द्वारे भीर।
एक आवत एक जात बिदा होइ एक ठाढ़े मन्दिर के तीर'।

एक स्त्री दूसरी स्त्री से ऐसी सुन्दरता एव आनन्द का कथन कर रही है। आनन्द और उत्साह की लहर जोरों से आज उमड आई है।

है। प्रत्येक नर नारी को आज गोकुल मे सौंदर्य ही सौंदर्य दिखाई देता है—

"शोभा सिन्धु न अन्त रही री।

नन्द भवन भरिपूर उमग चली,

व्रज की वीथिनि फिरति बही री॥

यशुमति उदर अगाध उदधि ते उपजी ऐसी सबनि कही री।

सूर श्याम प्रभु इन्द्र नीलमणि व्रजवनिता उरलाई गुही री॥

तुलसी के केवट के समान गोकुल-निवासियो की लालसा देखे ही बनती है। यह लालसा उनकी धृष्टता है या आग्रह ?

गोवर्धनवासी एक अतिथि महानुभाव आये है। मार्ग में लौटते हुए मनुष्यो को इन्होने राजा के समान जाता हुआ देखा है। उसी की प्रशसा एव नन्द की उदारता का वर्णन निजानन्द सहित नन्द से कर रहे हैं। साथ ही ऐसे विचित्र अतिथि है कि जो आनन्द उन्हे यहा प्राप्त हो रहा है, उसे छोडकर जाना ही नही चाहते। नन्दजी से वे यही भिक्षा माँगते हैं कि जब तक मदनमोहन पाव-पाव चलकर आँगन में न आयें और बोलने न लगे तब तक उन्हें उनके द्वार पर ही पडा रहने दिया जाय।

"नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवर्धन तें आयो।

तुमरे पुत्र भयो मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो॥

बदीजन अरु भिक्षुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि ते आये।

ते पहिरे कचन मणि भूषण नाना वसन अनूप।

मोहि मिले मरग में आवत मानो जात कहूँ के भूप॥

तुम तो परम उदार नन्दजू जिन जो माग्यो सो दीनो।

दीजे मोहि कृपा करी सोई जो हो आयो मागन।

यशुमति सुत अपने पाइन जब खेलन आवे आगन॥

जब तुम मदनमोहन करि टेरो कहि-सुनि कै घर जाऊँ।

हो तो तेरो घर को ढाढी सूरदास मेरो नाऊँ ।।

जन्म होते ही तो यह बात थी। अब बालक के लिए सबसे प्रथम एक पलने की आवश्यकता होती है। माता यशोदा ने एक सुतार को बुलाया है। उससे कह रही हैं "हे बढई, अमुक-अमुक परिमाण का एक पलना बना दे और देख, उसमें इस स्थान पर मणियां, उस स्थान पर मुक्ता-मालाएँ लगाना। इस जगह रेशम की डोरियाँ बाँधना-दूसरी जगह रत्न को जडना।" इस प्रकार यशोदा के आदेश मे मार्मिकता की उत्कृष्टता देखने योग्य है। उसके हृदय का आवेगमय उत्साह उमडा पड रहा है

"अति परम सुन्दर पालना गढि ल्याव रे बढैया।
शीतल चन्दन कटाउ धरि खरादि रग लाउ,
विविध चौकी बनाउ रग रेशम लगाउ,
हीरा, मोती, लाल मढैया ।।"

अनेक नर-नारी बालकृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने नित्य-प्रति आया ही करते थे। कंस द्वारा प्रेरित पूतना भी सुन्दर रूप धारण कर आई। चाहा कृष्ण को मार डालू, पर स्तन-पान कर उन्होंने उसे पल भर ही में यम को सौंप दिया। इस अद्भुत घटना की चर्चा भी घर-घर फैल गई। जैसा कि बहुधा होता ही है। इस घटना पर सूरदास ने कई पद कहे हैं।

यशोदानन्दन कुछ बडा हो गया है। स्त्रिया पहिले तो केवल दर्शन करती थी, अब लोभी के धन के समान उनकी अभिलाषा अधिकाधिक बढती जाती है। श्याम गोद मे उठाने योग्य हो गया है। कोई स्त्री उन्हें गोद मे उठाती है। कोई कन्धे पर बैठाती है। कोई एक दूसरे से उनको मागती है और कोई यह इच्छा करती है कि श्याम कुछ और बड़े हो। यशोदा के हर्ष का क्या पूछना ? कभी चूमती है, चुमकारती

है, कभी गोद उठाती है, कभी पलना झुलाती है। इसी आनन्द में व्रजवासियों और यशोदा एवं नंद का जीवन व्यतीत होता जाता है। और एक के बाद दूसरी अभिलाषा दिन-दिन बढ़ती जाती है।

"नेक गोपालै मोको दै री।

देखे कमल वदन नीके करि ता पीछे तू कनिया लै री॥"

बालक कृष्ण के बड़े होने की अभिलाषा भी परम सुन्दर है। उसका रोना, खीझना, हँसना सभी अनुपमेय हैं—

"कन्हैया हाल गोहाल रोई।

हौं वारी तेरे इंदु-वदन पर अति छवि अलसनि रोई॥"

कृष्ण पलने में सोये हैं यशोदा पालना झुला रही है। जिस परब्रह्म के वश में समस्त त्रिलोक है; अमर, नर, किन्नर जिसके सेवक हैं आज वह माता यशोदा को रोकर, किलकारी देकर, पलने में पड़ा हुआ अनिर्वचनीय सुख दे रहा है

"गोपाल माई पलने झुलाये।

सुर मुनि कोटि देव तेतीसो देखन कौतुक अम्बर छाये॥

.. ..

हुलसन-हुलसत करत किलकारी मन अभिलापा बढ़ाये।

सूर श्याम भक्तन हित कारण नाना वेष बनाये।

श्याम सोये-सोये ही नाना कौतुक कर रहे हैं। स्वभावतः ही हाथ-पांव चला रहे हैं। कभी हाथ का अँगूठा मुँह में लेते, कभी पांव का। यहाँ तो ये क्रियाएँ प्राकृत रूप से हो रही हैं, पर बेचारे शिव-

सूर का आतंक वर्णन

ब्रह्मादि पर बड़ा आतंक छा गया है। वे सोचते हैं कि भगवान की न मालूम क्या इच्छा है। कहीं प्रलय तो नहीं होने वाला है। परब्रह्म की आंतरिक इच्छा को 'बपुरे सुर नर' क्या समझें। जहां देवता इतने भय-

भीत है, वहा ब्रजवासियो को इसकी जरा भी आच नही लगी है। इस प्रकार का सुन्दर, सरस एव अद्भुत आतक-वर्णन प्राय नही मिलता। ऐसी रचनाओं मे तो प्राप्त ही नही हो सकता, जिसमे बालक ईश्वर रूप नही माना जाता

"कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढे पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रग खेलत॥
शिव सोचत बिधि वुद्धि विचारत बट बाढ्यो सागर जल झेलत।
विडरि चलै घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग दतौन सकेलत॥
मुनि मन भीत भये भव कपित शेष सकुचि महसौ फन फेलत।
उन व्रजवासिन बात न जानी समुझै सूर शकट पगु पेलत॥
"यशोदा मदनगोपाल सुवावै।
देखि स्वप्न-गति त्रिभुवन कप्यो ईश विरचि भ्रमावै॥
असित अरुण सित आलस लोचन उभै पलक पर आवै।
जनु रवि गति सकुचित कमल युग निशि अति उडन न पावै॥
चौंकि-चौंकि शिशु दशा प्रकट करि छबि मन में नहि भावै।
जानो निशि पति धरि करि अमृत श्रुति भण्डार भरावै॥
श्वास उदर उरसति यो मानो दुग्ध सिन्धु छवि पावै।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावै॥
कर शिर तर करि श्याम मनोहर अलक अधिक सो भावै।
सूरदास मानो पन्नग पति प्रभु ऊपर फन छावै॥"

ऐसी ही आनन्द-केलि में दिन व्यतीत होते किसी को ज्ञात नही होते। एक दिन की बात है, बालक तो थे ही श्रीकृष्ण पलने में से नीचे गिर पडे। इसका वर्णन भी सूर ने किया है। सूर की दृष्टि से बाललीला एव क्रीडा-सम्बन्धी कोई भी अश अछूता नही रहा है श्याम अब साढे तीन

सूर का बालक्रीडा, शृँगार रस का परिचय तथा विभिन्न लीलाएँ

महीने का हो चुका है। स्त्रियों का दर्शन करने जाना व गोद में उठाने के लिए आपस में झगड़ना अब भी नहीं छूटा है। क्षण-क्षण, दिन-दिन के जीवन में नवीनता ही नवीनता रहती है। यशोदा अब सोचती है कि कब मेरा लाडला घुटनो के बल चलेगा। कब उसकी दतुलियाँ दिखाई देंगी। मातृहृदय का सूर को कैसा और कितना परिचय है, यह इसी से ज्ञात होता है। माता की स्वभावतः यह इच्छा रहती है कि उसका प्यारा बालक शीघ्र ही बड़ा हो जाय। बड़े होने पर घुटने चलने की इच्छा होती है। घुटनो चलने लगता, तो खड़े होने की, बोलने, क्रीड़ा, कौतुक करने की अभिलाषा बढ़ती ही जाती है।

यशोदाजी सोचती है

"नन्द घरनि आनन्द भरी सुत श्याम खिलावै।
कबहुँ घुटुरुवनि चलहिंगे कहि विधिहि मनावै॥
कबहुँ दतुली द्वै दूध की देखो इन नैननि।
कबहुँ मुख बोलि है सुनिहौं इन बैननि॥

वह अभिलाषा शनैः-शनैः व्यग्रता, उत्सुकता एव अधीरता में परिणत हो जाती है।

उत्तरोत्तर उनका विकास आगे के पदो में होता जाता है। सागर की लहरो के समान एक लालसा शांत नही हो पाती है और उसके प्रथम ही दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेती है

"यशुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटरुअन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब द्वै दंत दूध के देखो कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नदहि कहि बाबा बोले कब जननि कही मोहि ररै॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै अपने कर सो मुखहि भरै॥

कब हास बात कहेंगे मोहि सो छवि देखत दुःख दूर करै ।

ऐसे लीलाकारी कौतुकी श्याम को भला कौन न चाहेगा ? माता पिता के तो वे प्राणधन थे ही । जिस परब्रह्म के लिए शिव, ब्रह्मा आदि का पाना भी दुर्लभ है, वह आज यशोदा की गोद भर रहे हैं । उसके गृह को सौभाग्य शाली बना रहे हैं, फिर भी क्या यशोदा अपनी छाती से उस प्यारी मूर्ति को लगा हृदय नही जुडायेगी ।

"अब हौं श्याम बलि जाऊँ हरी ।

निश-दिन रहति बिलोकति हरि मुख छाँडि सकति नहिं एक घरी ।'

माता यशोदा की इन अभिलाषाओं को बालकृष्ण भी कब अतृप्त रखने वाले थे । जब कभी किसी कारण से उनको दुख होता है, तब श्याम जरा हँसकर, किलकिलाकर उनका दुख मोचन करते हैं

"हरि किलकति यशुदा की कनियाँ ।

निरखि-निरखि मुख हँसत श्याम सो मो निधनी के धनियाँ ॥"

श्याम और बडे हो गये । छः महीने मे कुछ ही दिनो की कमी है । अब माता-पिता को अन्न-प्राशन की चिन्ता पडी । वह भी क्यो रहे ? प्रत्येक रीति-रस्म त्यौहार सस्कार यथाविधि मनाया जाता है । बस एक दिन ब्राह्मण को बुलाकर शुभ दिन पूछा और तब से ही यशोदाजी उसकी तैयारी मे तत्पर होकर लग गईं । उस मगल-दिन यशोदा ने सखी-सहेलियो को बुलाया । गायनादि गवाये । इस समय भी कोई स्त्री उनको उठाती है, कोई झकझोरती है । एक ओर कान्ह के मुह जूठा करने के लिये षटरस व्यञ्जन तैयार हो रहे हैं । बस उस मगल घडी के आने में अब थोडा ही समय रह गया है । नन्द आ गये और प्यारे लडके कन्हैया को गोद मे बैठाने को मागा । उधर यशोदा ने उन्हें स्नान करवाया, वस्त्राभूषण पहिराये और नद की गोद मे बैठा दिया । सबको सब प्रकार के व्यजन परोस दिये गये । कृष्ण का अन्न प्राशन हुआ और

फिर जिसकी जो इच्छा हुई। उसने वह पदार्थ खाया। अब यशोदा बार-बार अपने लाल के मुखको चूम-चूमकर उसकी सुन्दरता की सराहना कर रही हैं और नेत्र सफल कर रही है

"लाल तेरे मुख ऊपर वारी।

बलि कैसे मेरे नैनन की लगे लेऊँ बलाई तिहारी।"

यशोदा, नन्द तथा अन्य व्रजवासी ऐसे ही खेलते - खिलाते अपना समय व्यतीत करते जाते हैं और उन्हे कुछ ज्ञान नहीं होता कि वह किस प्रकार निकल गया। परसों श्याम साढ़े तीन मास के थे, कल ६ के हो गये और आज श्याम पूरे वर्ष भर के होने जा रहे हैं। जब वर्ष भर के हो रहे है तो उसकी वर्षगाँठ भी मनाना चाहिये। माता यशोदा अन्न-प्राशन का उत्सव अभी समाप्त ही नही कर पाई थी कि वर्षगाँठ आ गई। नन्द इधर-उधर फूले-फूले फिरते हैं। उन्हे बडी खुशी हुई हैं। ग्राम-महिलाओ को इस उत्सव निमित्त बुलाया जा रहा है। इधर फूल-तमाल लाने की तैयारी हो रही है उधर यशोदा आगन लिपवा रही है। चौक पुरवा चौकी डलवा रही है। स्त्रियो को नये-नये वस्त्राभूषण दिये जा रहे है, ताकि सब सुन्दर दिखाई दें। उनके उत्साह की वृद्धि हो। यशोदा श्याम को नहाकर अब शरीर पोछ काजल और दिठौना लगा रही है। कृष्ण भी मचल रहे है, रो रहे हैं। बाल-कलह कर रहे है

"आज भोर तमचुर की रोल।
गोकुल में आनन्द होत है मंगल-ध्वनि महाराने टोल॥
फूले फिरत नन्द अति सुख भयो हरषि मँगावत फूल तमोल।
फूली फिरत यशोदा घर-घर उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल॥
तनक बदन दोउ तनक-तनककर तनक चरन धोवत परभोल।
कान्ह गले सोहे कठमाला अग अभूषण अँगुरिन गोल॥

शिर चौतकी दिठौना दीने आखि आजि पहिगाइनि चोल।
श्याम करत माता सो झगरा अटपटात कलवल कर बोल॥
दोउ कपोल गहिकै मुख चूंवति वर्ष-दिवस कहि करत कलोल।
सूरश्याम ब्रजजन-मनमोहन वरप गाठि को डोरा खोल॥

`वर्षगाठ हुई और उसके समाप्त होते न होते ही कनछेदन सस्कार आ उपस्थित हुआ। पहिले यशोदा के हृदय में कुछ भय का सचार सा हुआ, पहृ क्षण भर में वही आनन्द में परिणत हो गया। सब ब्रज-युवतियो ने गाते-बजाते इसे भी समाप्त कर लिया। अब श्याम घुटनो के बल चलने लगे है। जिस बात को देखने की अभिलाषा आज ६ महिने से लगी हुई थी वह भी आज पूर्ण हुई। श्याम घुटनो के बल चल-चलकर कभी इधर जाते, कभी उधर; कभी नन्द की गोद, कभी यशोदा के अचल में। कभी श्याम किलकारी देकर हँसते हैं, कभी मणि-रत्न-जटित आँगन में अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। सब ब्रजवासियो के मध्य श्याम को सूर की अमृत वाणी में खिलवाड करते देखिये बार बार-बार सूर की, अनाक्षी सूर की लेखनी चूम लीजिये

"घुटुरुअन चलत श्याम मणि आगन मात-पिता दोउ देखत री।
कबहुँक किलकिलात मुख हेरत कबहुँ जननि मुख पेखत री॥

... ...

कबहुँक दौरि घुटरूअन लटकत गिरत फिरत फिर धावत री।
इतते नन्द बलाय लेत हैं उतते जननि बुलावत री॥"

श्याम यहाँ-वहाँ फिर रहे हैं। फर्श पर उनका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। वे यह तो समझते नही, क्या है? उसे ही पकडने दौडते हैं। कुछ-कुछ मुंह से बोलने लगे हैं, पर स्पष्टता से बोली नहीं निकलती है। कुछ बोलना चाहते हैं कुछ निकल जाता है।

"बाल विनोद खरो जिय भावत।

मुख प्रतिबिम्ब पकरिवे कारण हुलसि घुटरुअन धावत ॥
छिनक मांझ त्रिभुवन की लीला शिशुता माँह दुरावति ।
शब्द एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट वचन नही आवत ॥
कमल नैन माखन मांगत हैं ग्वालिनि सैन बतावत ।
सूर श्याम सुसनेह मनोहर यशुमति प्रीति बढावत ॥''

जब घुटनो के बल चलने लगे; तो श्याम कही के कही चले जाते हैं। हाथ-मुह में धूलि लपेट लेते हैं। गिरते-पड़ते माता के पास पहुँचते है। माता झट से दौड़कर गोदी में उठा लेती है और धूल झाड मुह पोछ पूछती हैं यद्यपि श्याम उत्तर नही दे सकते हैं कि तूने यह धूल कहा से लगा ली

"नन्दधाम खेलत हरि डोलत ।
यशुमति करत रसोई भीतर आपुन किलकत बोलत ॥
टेरि उठी यशुमति मोहन को आवहु घुटुरुवन धाये ।
बैन सुनत माता पहिचानी चले घुटुरुवनि पाये ॥
लै उठाय अचल गहि पोछे धूर भरी सब देह ।
सूरज प्रभु यशुमति रज झारति कहाँ भरी यह खेह ॥"

जब कुछ और बड़े हुए तो हाथ पकड़कर चलना सिखा रही है—

"धनि यशुमति बढभागिनी लिये श्याम खिलावै ।
तनक तनक भुज पकरिकै ठाढो होन सिखावै ॥
लरखरात गिरि परत हैं चलि घुटुरुअन धावे ।
पुनि क्रम क्रम - भुज टेक कै पग द्वेक चलावै ॥"

श्याम चन्द्रकला की भाँति बढते जाते हैं। कभी इधर जाते हैं कभी उधर, कभी घर के इस आगन में कभी उस आगन में, कभी लडखड़ाकर गिर पड़ते हैं और उठकर फिर भागने लगते हैं कभी सीढियो से उतरना चाहते हैं, कभी उन पर चढ़ना। कभी माता जब

उनको सीढ़ियों से उतरते देख लेती है, गिरने के भय से स्वय जाकर उन्हें उतारने लगती है। सूर आश्चर्य प्रकट करते हैं जिस शक्ति से बड़े-बड़े राक्षसो का, शक्तिशालियो का दर्प दूर किया वह दर्प कहा है ? जिस शक्ति ने रावण सदृश योद्धा का वधकर डाला, पूतना का सहार किया वह जरा-जरा मे ठोकर खाकर गिर रहा है।

कृष्ण की इस मनोमोहिनी बाल-क्रीडा से नन्द और यशोदा को ही आनंद नही प्राप्त होता, वरन यह आनद-अबुधि तो उमडकर सब ब्रजवासियो को निमग्न कर रहा है। जो इस रस सागर का सुख उठा लेता है, वह फिर इसे त्याग अन्यत्र नही जाता। ग्राम-ललनाओ की तो यह दशा है कि जबसे उन्होने इस माधुरी का आस्वादन किया है। क्षण भर भी घर मे रहना दूभर होगया है। वापिस आई नही कि फिर वही पहुँची। घर से उनका स्नेह ही टूट गया है। बार-बार उनकी सुन्दरता का ही ध्यान बना रहता है। श्याम की बाल-क्रीडा के सिवा कुछ अन्य कथन नही कहने को, व्यवसाय नही करने को

"जबते मै खेलत देखो आगन यशुदा को पूत री।
तबते गृह सो नाहिन नातो टूटो जैसो काचो सूत री॥
अति विशाल वारिज दल लोचन राजति काजर रेख री।
इच्छा सो मकरन्द लेन मनो अलि गोकुल के वेष री॥
श्रवणन नही उपकठ रहत है अरु बोलत तुतरात री।
उमगै प्रेम नैन मगन ह्वै कै कापै रोले जात री॥
दमकत दोउ दूध की दतिया जगमग-जगमग होत री।
मानो सुन्दरता मन्दिर मे रूप रतन की ज्योति री॥
सूरदास देखो सुन्दर मुख आनन्द उर न समाइ री।

इस प्रकार जो वहा जाता है श्याम की विचित्र क्रीड़ाओं पर मुग्ध होकर वापस लौटता है, सब ब्रजवासी मत्रमुग्ध से हो रहे हैं। उधर

श्याम अब बाहर भी खेलने के लिए जाने लगे हैं। सब ग्वाल-बालों के साथ अपने घर से बाहर खेलते है। कभी यशोदा काम करती रहती हैं और कभी बाहर आकर अपने सुत को देख जाती हैं। इतने में ही कभी श्याम को भूख लग आती है तो दौडकर झट माता के पास माखन रोटी मागने पहुँच जाते हैं। माता को जरा भी देर होती है तो रोने लगते हैं। उनके रोने में भी अकथनीय आनन्द आता है उनका मचलना भी मनोहर है। उनका तनक रोटी मागना भी कितना प्यारा है ?

"तनिक दै री माइ।
माखन तनक दै री माइ ॥
तनिक कर पर तनिक रोटी मांगय चरन चलाइ।
कनक भूपर रतन की रेखा नेक पकर्यो धाइ।"

इस प्रकार से स्वय तो रोटी मांगने में शरमाते हैं, पर जब यशोदा बुलाती हैं तो खेलने की धुन में इतने मस्त हो जाते हैं कि फुसलाने से भी नहीं आते। तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं, पर श्याम बाहर ही रहते हैं। माता यशोदा कहती हैं

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बाढै।
कश केशि बक बैरिन के उर अनुदिन अनल उठै ॥
वह सुनि कै हरि पीवन लागै त्यो-त्यो लियो लहै।
अचवत पै तातो लाग्यो रोवत जीभ उठै ॥
पुनि पिवत ही कच टकटोवै झुठे जननि रहै।
सूर निरखि मुख हँसत यशोदा सो मुख उर न मढै"

कृष्ण बार-बार अपनी चोटी टटोलते हैं, पर वह बढती हुई दिखाई नही देती। अपनी बुद्धि से सोच-विचार फिर पीने लगते हैं और फिर देखने लगते हैं; पर फिर भी वह उतनी ही बड़ी रहती है। अब

तो उनको माता के झूठ बोलने का कुछ-कुछ ज्ञान हो जाता है। इतने मे यशोदा भी मुस्करा उठती हैं। बस अब बालक का धैर्य जाता रहता है वह पूछ बैठता है

"मैया कबही बढैगी चोटी।

किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी॥

तू जो कहति बल की बेनी ज्यो ह्वै है लाबी मोटी।

काढत गुहत न्हवावत ओछत नागिनि सी भवै लौटी॥

काचो दूध पिवावतपचि-पचि देत न माखन रोटी।

सूर श्याम चिरजीवौ दोउ भैया हरि हलधर की जोटी॥"

अब श्याम मम्मा, दद्दा कहना भी सीख चुके हैं। इसी मे ये कहने "लगै मोहन मैया-मैया।

पिता नद सो बाबा—बाबा अरु हलधर सो भैया।

बड़े होने पर बच्चे घर के भीतर रहना कम पसन्द करते हैं। उन्हे बाहर ही बाहर की लौ लगी रहती है। अतएव अब श्याम बाहर ही खेला करते हैं। कभी नन्द बाहर से आकर बुलाते हैं, तब बडी कठिनाई से श्याम आते हैं। सध्या हो जाती है। यशोदा मैया बार-बार बुला रही है, पर श्याम को आने की सुधि ही नही है। कोई भी बाहर घमाने को ले जाय तो फौरन बाहर जाने को तैयार। घर मे रहेंगे तो सीधे न रहेगे। कुछ न कुछ खटपट चलती रहेगी और मिट्टी खाने मे तो बड़े उस्ताद। बाल स्वभाव ही ऐसा होता है। बस जो चीज देखी मुँह में डाल ली। चाहे मिट्टी हो, पत्थर हो, लोहा हो, कुछ भी हो। बालकृष्ण भी जहा मिट्टी देखी, उठाकर गप्प कर गये। माखन-रोटी मैया बार-बार बुलाकर देती हैं, तो अच्छी नही लगती और मिट्टी ऐसी मीठी कि चुरा-चुराकर खाते हैं। जब यशोदा पूछती हैं कि मिट्टी क्यो खाई तो झट से कह उठते हैं मैया मैंने मिट्टी नही खाई। कभी कह

देते हैं कि वे तो मेरे मुँह से मिट्टी लगा देते हैं और झूठ ही आकर तुम से कह देते हैं कि इन्होंने मिट्टी खाई है। कभी जब यशोदा मिट्टी खाते पकड़ लेती हैं, तब बस श्याम के होश गुम हो जाते हैं। वह उसे नही छोड़ते। यशोदा चाबुक लेकर कहती हैं माटी उगलो। 'नही' कहने पर कहती हैं अच्छा मुँह दिखाओ। मुँह खोलकर जब दिखाते हैं तो उन्हे ब्रह्माण्ड दीख पड़ता है और वे चकित होकर रह जाती हैं

"खेलत श्याम पौर के बाहर वृज लरिका सोहत सग जोरी।
तैसे आपु ते सेई लरिका सब अति अज्ञ सबनि मति थोरी॥
गावत हाक देत किलकारत दुरि देखत नंद रानी।
अति पुलकित गदगद मृदुबानी मन-मन महरि सिरानी॥
माटी ले मुख मेल दई हरि तबहिं यशोदा जानी।
सोंटी लिये दौरी भुज पकरे श्याम लगँ रई ठानी॥
लरिकन को तुम सब दिन झुठवत मोसो कहा कहोगे।
मैया मै माटी नही खाई मुख देखो निबहोगे॥
वदन उघार दिखायो त्रिभुवन वन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरती फेर॥
यह देखत जननि जिय व्याकुल बालक मुख का आहि।
नैन उघारी वदन हरि मूँद्यो माता मन अवगाहि॥
झूठ ही लोग लगावत मोको माटी मोहि न सुहावै।
सूरदास तब कहति यशोदा व्रज लोगन यह भावै॥"

श्याम ज्यो ज्यो बड़े होने लगे, त्यों-त्यों और अधिक उत्पाती और बात बनानेवाले होते जाते है। उनका यह असत्य, उनकी यह चोरी भी कितनी प्यारी है! वास्तव में सूर के आनन्द का मथन करना 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी" है। कृष्ण सब ग्वाल-बालो को लेकर अब घर-घर चोरी करने निकल जाया करते है। जरा आँखें बचाई उड़ाया

माखन और भागे। कौन पकड़ने दौड़ता है ? और श्याम हाथ ही कब आने लगे हैं। देखा, कोई ब्रजनारी घर से बाहर चली गई है, घर पर कोई है नहीं, बस फिर तो खूब बन आई। चुपके से अपने सखाओं को संग लेकर अन्दर घुस गये। दधि, दूध, माखन की मटकी तक हाथ नहीं पहुंचता है, चट से एक सखा को घोड़ा बनाया, और चढ़ गये उसकी पीठ पर। खूब माखन बँटाई होने लगी। जैसी इच्छा खाया खिलाया, पिलाया, लुटाया और मटकी-वटकी फोड, दूध-दही गिराकर भागे। बेचारी ब्रज-नारी जब घर आई तो श्याम की करतूत देखकर हैरान हो रही। यशोदा से जाकर शिकायत की पर माता यशोदा कब मानने लगी ? वे तो अपने ललना को भोला समझती है और कृष्ण भी बातें बनाने में निपुण है। एक दिन फिर किसी घर घुसे। आज पकड़ा गये। वह पकडकर माता के पास लाई। माता के पास आते ही उसे झूठा बना दिया। एक दिन घर पर ही पकडकर कोई ललना क्रोधित होने लगी, बस क्षण भर उसकी ओर देखकर हँस दिये। वह ललना भी हँस दी और उन्हे हृदय से लगा लिया। एक दिन अकेले ही अँधेरे मे घुस गये और माखन उडाने लगे। गृहस्वामिनी ने देखा तो मुग्ध हो गई और अँधेरे ही में उनकी मोहक छवि को निहारने लगी—

"आप गये हरुये सूने घर।
सखा सबही बाहर ही छाँडै देख्यौ दधि माखन हरि भीतर॥
तुरत मथ्यो दधि माखन पायो लै लै खात धरत अधरनि पर।
सैनहू दै सब सखा बुलाये तिनहि देत भरिभरि अपने कर।
छिटक रही दधि बूद हृदय पर इत-उत चितवत हरिमन में डर॥'

एक दिन ऊखल पर हाथ रख पीठ पर सखा को चढा माखन चुरा लाये। गृहस्वामिनी गई और यशोदा को खबरकर आई। यशोदा आई और देखती रही।

"चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निशि वासर मोहि बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये॥
माखन दधि मेरो सब खाओ बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो आइ परे हो ललना तुम्हें भले मैं चीन्ही॥
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउं मंगाई।
तेरी सौं नेकु न चाख्यो सखा गये सब खाई॥
मुख तन चितै विहँसि हँसि दीनो रिस तब गई बुझाइ॥
लियो लाइ ग्वालिनी हरि को सूरदास बलि जाई॥"

श्याम किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। बारह वर्ष की अवस्था हो गई है। पहिले माखन चोरी का कोई दूसरा ही आनन्द था, अब कोई दूसरा ही हो रहा है। इस किशोर की छवि देख व्रज-वनिताओं ने धैर्य छोड़ दिया है। श्याम अब किसी दूसरे उद्देश से ही माखन चोरी करके खाने लगे हैं। यशोदा के पास शिकायत आती है, पर यशोदा को तो कृष्ण छोटे ही दिखाई देते हैं। और वे व्रज-युवतियों ही को निर्लज्ज कह डाँटकर रह जाती हैं। एक दिन कृष्ण ने एक युवती को दही मथते देखा। वे उसके द्वार पर जाकर खड़े हो गये। वह उन्हें देखकर विह्वल हो गई। दधि-दूध का लालच देकर धीरे से श्याम को अन्दर बुला लिया और बड़े जोर से हृदय से लगा लिया। श्याम की छवि ने उसे बेसुध बना दिया था। श्याम ने तड़ाक से उसकी चोली फाड़ डाली, अब क्या करे। शायद घरवालों के डर से चली यशोदा के पास शिकायत करने

"अपनो गाउं लेहु नंदरानी।
बड़े बाप की बेटी तातें पूतहि भले पढावति बानी॥
सखा भीर लै पैठत घर मैं आपु खाइ तो सहिये।
मैं जब चली सामुहें पकरन तब के गुण कह कहिये॥

भाजि गये दुरि देखत कतहूं मैं घर पोढी आई :
हरे हो वेनी गहि पाछे बांधी पाटी भाई ॥
सुनु मैया याके गुण मोसों इन मोहि लियो बुलाई।
दधि में परि सेत की चींटी मोपे सबै कढाई ॥
टहल करत याके घर की मैं कहू पति सग मिलि सोई।
सूर वचन सुनि हसी यशोदा ग्वालि रही मुख जोइ ॥"

इसके पश्चात दूध दुहना भी बडा मनोरजक है। श्याम दूसरो को दूध दुहते देखकर स्वय भी दूध दुहना सीखते हैं

"मैं दुहिहूं मोहि दुहन सिखावहु ।
कैसे धार दूध की बाजति सोई-सोई विधि तुम मोहि बतावहु ॥
कैसे धरत दोहनी घुटुवन कैसे बछरा थनहि लगावहु ।
कैसे ले नोई पग बाधत कैसे लै या पग अटकावहु ॥
निपट भई अब साझ कन्हैया गाइन पै कहुं चोट लगावहु ।
सूर श्याम सो कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु ॥"

प्रातःकाल हो गया। श्याम अभी सोये ही हुए हैं। यशोदा और नद जगा रहे हैं। उस समय की उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ देखने योग्य होती हैं।

इधर कृष्ण जागे ही थे उधर माता ने जलपान की तैयारी पहिले से ही कर रखी थी। उठते ही मुंह धुलाया और दोनो भैयाओ को जलपान के लिए बैठा दिया। अब दोनो प्यार भरे वचनों से खा और खिला रहे है।

"बल मोहन दोउ जेंवत रुचि सो सुख लूटति नदरानी ।
सूरश्याम अब कहत अघाने अचवन मागत पानी ॥"

एक बार इसी प्रकार ये जल पान कर ही रहे थे कि द्वार पर सब ग्वाल-बाल गाय चराने चलने को पुकारने लगे। अब क्या था, खाना-पीना भूल गये और जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे कुछ खाया, कुछ डाला और भागे; क्योंकि आजकल दोनों भाइयों को गाय चराने का बड़ा चाव है। बड़ी रुचि से गाय चराने जाते है। प्रारम्भ में नये काम को सीखने में बच्चों को क्या सभी मनुष्यों को बड़ा उत्साह रहता है। वे बड़ी लगन से काम करते है और उसी मे जुट जाते है। इधर जब इन्होंने भी द्वार पर सब सखाओ को पुकारते सुना, तो ये भी भागे। उत्सुकता से बाहर आकर पूछते है

> "कितिक दूर सुरभी तुम छाडी बन तो पहुँची आही ॥
> ग्वाल कह्यो कछु पहुँची ह्वै है कछु मिलि है मगमाही।
> सूर श्याम बल मोहन नैया गैयन पूछत जा ही ॥"

वन में गाय चराने पहुच गये है। इधर-उधर चराते चराते मध्याह्न हो गया है। इस समय कृषक-कन्याएँ तथा वधुएँ खेतों पर भोजन ले जाती है। कृष्ण और बलराम के लिए भी कोई ब्रज-वधू दुपहर को भोजन लाई है। पर ये दोनो मस्त जीव। छिपकर उसे कुछ तंग कर रहे है। वह खीझ ही रही थी कि श्याम ने उसकी बड़ाई कर उसे शात कर दिया

> "ऐसी भूख माँझ तू ल्याई तेरी केहि विधि करौं बड़ाई।
> सूर श्याम सब सखन पुकारत आवहु क्यो न छाक है आई ॥"

सखाओं के आ जाने पर सब साथ-साथ बैठे। क्या चुहलबाजी हो रही है? कितना विनोद एवं आनन्द हो रहा है? मित्र-मित्र जब खाने बैठते है, तो यही आनद आता है

> "ग्वालन करते कौर छुड़ावत।
> जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत ॥"

भगवान के बाल-स्वरूप का चकरी भौंरा खेलना भी बड़ा मनो-हर है। कृष्ण भौंरा मांग रहे हैं-

"दे मैया भंवरा चक डोरी।
जाइ लेहु आरे पर राखो, काल्हि मोल ले राखे कोरी॥
ले आये हँसि श्याम तुरत ही देखि रहे रंग-रंग बहु जोरी।
मैया बिना और को राखत बार-बार हरि करत निहोरी॥
बोलि लिये सब सखा सग के खेलत श्याम नंद की पोरी।
तैसेई हरि तैसेई सब बालक कर भँवरा चकरिनि की जोरी।
देखति जननि यशोदा यह छवि विहँसत बार-बार मुख मोरी।
सूरदास प्रभु हँसि-हँसि खेलत ब्रज बनिता तृण तोरत गोरी॥"

इसी प्रकार अनेक क्रीडा-कौतुकों में समय व्यतीत होता कुछ जान नही पडता। एक दिन एक स्थान पर श्याम चकरी भौंरा खेल रहे थे, वही पर उन्हे प्रथम बार ही राधिका के भी दर्शन हो गये। वह नीली फरिया पहिने हुये थी। उसका गौरवर्ण है। वह बड़ी भोली है। उसे देखते ही कृष्ण प्रथम बारही में मोहित होगये। कृष्ण राधा से अब उसका परिचय पूछते है। दोनो का परस्पर वार्तालाप एव कृष्ण का राधा को सग ले जाना भला प्रतीत होता है

"बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहा रहत काकी है बेटी नही कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवणनि नद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलो सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमनि बातन, भुरइ राधिका भोरी॥

राधिका का परिचय पूछा। अब श्याम अपना परिचय दे रहे हैं और राधा से कभी-कभी अपने यहा खेलने आने के लिए कह रहे

हैं। दोनो की अल्प वय है। पर इसी वय में दोनो का कितना प्रेम हो गया है

"प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यो।
सैन-सैन कीनी तब बातें गुप्त-प्रीति शिशुता प्रगटान्यो॥
खेलन कबहुं हमारे आवहु नन्द-सदन ब्रज गाव।
द्वारे आइ टरि मोहि लीजो कान्ह है मेरे नाउँ॥
जो कहिये घर दूरि तुम्हारो बोलत सुनिये टेर।
तुमहिं सौंह ब्रजभानु बबा की प्रात्त सांझ इक फेर॥
सूधी निपट देखियत तुमको ताते करियत साथ।
सूर श्याम नागर उन नागरि राधा दोउ मिलि गाथ॥"

बस अब कभी-कभी दोनो मिल लेते हैं। घर पर कोई कुछ पूछता है तो कुछ बहाना कर दिया जाता है। दोनो एक-दूसरे को जाने देना नही चाहते हैं। इसी विषय की जरा राधिका की सुकुमार सूक्तियाँ देखिये-

"नन्द बबा की बात सुनो हरि।
मोहि छाडि कै कबहूँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि॥
भली भई तुम्हे सौंप गये मोहि जानि न दैहो तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छौंडि हौं महरि खीझिहै हमको॥
मेरी बाह छाडि दै राधा करत उपर फट बातें।
सूर श्याम नागर नागरि सो करत प्रेम की घातें॥"

कृष्ण ने राधिका की नीवी पकड धीरे से श्रीफल पर कर सरोज रखा। इतने ही में यशोदा आ गई। श्याम झट से बालक बन यशोदा माता से राधिका से झगडा करते हुए कहते हैं देखो माता इसने मेरी गेंद चुरा ली है

"नीवी ललित गही यदुराई ।
जबहि सरोज धरो श्रीफल पर तब यशुमति गइ आई ॥
तत्क्षण रुदन करत मनमोहन मन में बुधि उपजाई ।
देखो डीठ देत नहिं माता राखो गेंद चुराई ॥
काहे को झक झोरत नोखे चलहु न देहु बताई ।
देखि विनोद बाल सुत को तब महरि चली मुसकाई ॥"

धीरे-धीरे उनका यह शृंगार-रस-पूर्ण-विनोद बढता जाता है । कृष्ण-राधिका नये-नये उपाय ढूंढ मिल लेते हैं । एक दूसरे पर रीझते और खीझते हैं । जब से दोनों मिले हैं, घर पर रहना अच्छा नही लगता । कभी श्याम राधिका की उढनिया उठा लाते और वह इनका पीताम्बर ओढकर चली जाती है । इसी पर दोनो के घर बहानेबाजी चलती है । राधिका को बिह्वल देख उसकी मा पूछती है -"बेटी तू आज कैसी विह्वल दिखाई देती है । खेलने जब गई थी तब तू ऐसी नही थी ।" राधिका कहती है आज खेलते-खेलते मेरी तबियत खराब हो गई पर भला करे उस नद सुत क जिसने ऐसी शीतल झारी जल सीचा कि मेरा हृदय ठडा हो गया है। अभी तक इधर-उधर ही ये लोग मिल लिया करते थे । एक दिन खेलने के बहाने से ही राधिकाजी नंद के यहा खेलने आ गईं राधिकाजी ने कान्ह के विषय में पूछा । कान्ह भी विचित्र और विनोद-पूर्ण परिचय देते हैं

"सुनत श्याम कोकिल सम बाणी निकसे अति अतुराई हो ।
माता सो कछु करत कलह हरि सो डार्यो बिसराई हो ॥
मैया री तू इसको चीन्हति बारबार बताई हो ।
यमुना तीर काल्ह मै भूल्यो बाह पकरी लै आई हो ।
आवति यहा तोहि सकुचति है मै दै सोई बुलाई हो ।
सूर श्याम ऐसे गुण आगर नागरि बहुत रिझाई हो ॥

कृष्ण का परिचय देखते ही बनता है, कितना बुद्धि-पूर्ण है। राधिका जो शरमा रही थी। बड़ा साहस कर तो वे यहा तक आ पाई थी। कही इसी सकोच-वस वापिस लौट जाती तो श्याम को उनका सम्मिलन-सुख कहाँ प्राप्त होता; अतएव श्याम भी किस बुद्धिमानी से इधर माता को परिचय देते है और उसमें अपने ऊपर राधिका उपकार जताते है। भला ऐसी उपकार करने वाली राधिका को क्या यशोदा दूर से ही भगा देतीं ? इधर इस कथन से राधा का सकोच भी दूर हो गया। सूर की सूझ कितनी दूर तक पहुँचती है, यह यहा देखने योग्य है।

राधिका अब प्रतिदिन आने लगी हैं। माता यशोदा की आज्ञा भी राधिका को हो गई है। दोनो तरह-तरह के खेल नित्य-प्रति खेला करते हैं। कभी खेलते खेलते दोनो लड भी पडते हैं। एक दिन दोनो की लड़ाई हुई। कृष्ण ने राधा की चूनरी फाड़ डाली। कभी जब वे प्रसन्न होते, राधा को तिलक कर देते हैं। हृदय तो उनका मिला हुआ है, किंतु कभी-कभी ये अल्पवयस्क बालक-बालिका बाह्य रूप से यह प्रदर्शित करने के लिए कि उनमें प्रेम नही अपने माता पिता को बडी ही युक्तियो से बनाया करते हैं। राधा-जननी और यशोदा उनके घनिष्ट प्रेम को लक्षित न कर पायें, यही इस समय उनका उद्देश्य रहता है। इसीलिए उनके मनोभावो को उभाडकर वे अपनी स्नेह-ग्रन्थि और भी कडी करते जाते हैं। राधा अपनी माता से कहती है -

'मेरे आगे महरि यशोदा मैया री तोहिं गारी दीन्ही।
बाकी बात सबै मैं जानति वै जैसी-तैसी मैं चीन्ही॥
तोको कहि पुनि कह्यो बबा को बडो धूर्त वृषभानु।
तब मैं कह्यो ठग्यो कब तुमको हँसि लागी लपटान॥

भली कही तैं मेरी बेटी लयो आपनो दाउ।
जो मुँहि कह्यो सबै उनके गुण हँसि हँसि कहत सुभाउ ॥'

इधर राधिका का यह हाल था। उधर श्याम भी माता को यह दिखाने के लिए कि राधिका से मेरी प्रीति नही है, अथवा जैसा बच्चे बहुधा बालस्वभाव-वश कहा करते हैं, कृष्ण भी यशोदा से समझा-समझाकर कहते हैं

"कहत कान्ह जननि समुझाई।
जहा तहा डारे रहत खिलौना राधा जनि ले जाइ चुराई ॥
साँझ सवेरे आवन लागी चितै रहति मुरली तन आइ।
इन्ही में मेरे प्राण बसंतु हैं तेरे माथे नेकु न माइ ।।"

माता यशोदा अच्छी-अच्छी हृष्ट-पुष्ट गायो का दूधगर्म कर और फिर ठडा कर कृष्ण को पिलाना चाहती हैं, पर कृष्ण भी मचल मचलकर विशेष गायो का दूध ही पीने को इच्छा प्रकट करते हैं। कभी कहते है, मैया, मै उस काली गाय का दूध पिऊँगा। कभी कहते उस धौरी गाय का दूध मैया मुझे अच्छा लगता है। फिर कभी कृष्ण गाय चराने जाने के लिए मचलते है। मैया बहुत समझाती है कि भैया तुझे वहाँ धूप लगेगी, भूख लग आवेगी, पर कृष्ण कब मानने लगे। वे कहते है नही मैया, मुझे धूप नही लगेगी। वहाँ मै वन फल खा लूंगा तो मेरा पेट भर जायगा। बडी हठ करते है और वन को जाये बिना नही मानते। गाय चराने चले तो गये, पर सध्या को जब वापिस लौटे तो मुँह सूखा हुआ था। यशोदा ने झपटकर गोद में उठा लिया। पूछने लगी—कान्ह तू मेरे लिये भी कुछ लाया। यह पूछ नही पाई कि शीघ्र ही ममता-वश श्याम से माखन-रोटी खाने को पूछने लगी-

"यशुमति दौरि लए हरि कनियाँ।
आज गयो मेरो गाय चरावनि हौं बलि गई निधनियाँ ॥

मो कारण कछु आन्यो है वलि वन-फल तोगि कन्हैया ।"

इसके पश्चात कई पृष्ठो तक काली-मर्दन एव दावानल पान की कथा है । श्याम फिर गाय चराने जाने लगे । जगल मे गाये इधर-उधर चली जाती हैं । सन्ध्या समय उन्हें इकट्ठी करके घर पर लाना

मुरली माधुरी

होता है । जब वे बहुत दूर निकल जाती है, निकट मे दिखाई नही देती, तब किमी बड़े वृक्ष पर चढकर जोर-जोर से उन्हे बुलाना पडता है । ग्राम्य-जीवन का जिन्हे अनुभव है, वे इस बात को भलीभाति जानते है । श्याम बड़े कार्य-तत्पर हैं । भला इनके सिवाय वृक्षो पर चढकर गायो को कौन बुलाये ? सब इन्ही मे प्रार्थना करते है । ये पुकारने के लिए मुरली बजाते है । सहज स्वभाव से उधर व्रज वनिताये श्याम-बासुरी पर मुग्ध हो वन को भागी आती है । ऐसे प्रसगो के चित्र बड़े मनो-मुग्धकारी है ।

श्याम की इस मुरली का प्रभाव कम नही है । बेचारी व्रज नारिया तो स्त्रिया ही हैं । इसका प्रभाव तो बडा व्यापक है । पशु-पक्षी, ऋषि-मुनियो तक पर पडता है । बस श्याम के अधर पर रखने की ही देर है कि उसका प्रभाव अलौकिक पडता है ।

श्याम की सुन्दरता एव मुरली मधुरता का सूर ने बडा ही विशद वर्णन किया है । पद के पश्चात् पद पढते जाइये, आनन्द की वृद्धि होती ही जायगी । कही शिथिलता का नाम नही और न कही जी ऊबेगा ।

मुरली का प्रभाव भी विशद है ।

"तब लगि सबै सयान रही ।
जब लगि नवल किशोरी मुरली बदन समीर वही ।
तबही लौं अभिमान चातुरी पतिव्रत कुलहि चही ॥

जब लगि श्रवण रन्ध्र मग मिलि नाहीं इहै बही।
तव लगि तरुनी तरल चचलता बुधि बल सकुचि रही॥
सूरदास जब लगि वह ध्वनि मुनि नाहिन बनन कही॥"

जिसकी मुरली इतनी प्रभावशाली है भला उसपर भोली-भाली व्रजनारिया कैसे मोहित न होगी। धन्य है माता यशोदा, धन्य है पिता नन्द, धन्य है वह मुरली और वह ग्राम, जहा के निवासी श्रीकृष्ण की रूप-छवि के रस का पान किया करते है। उस ग्राम की वृक्ष-लताएँ, धूलि, कण-कण, अणु-अणु सब ही हमारे पूजा के पात्र है। देवताओ के स्वर में हमारा हृदय भी यह कह उठता है

"हम न भई वृन्दावन रेनु।
जिन चरणन डोलत नद-नदन नित प्रति चारत धेनु॥
हमते धन्य परम ए द्रुम वन बालक बच्छ अरु धेनु।
सूर सकल खेलत हस बोलत ग्वालन सग मथि पीवत फेनु॥"

एक दिन श्याम दूध दुह रहे थे कि राधा आई। कृष्ण ने जब राधा को देखा तो उन्हे प्रेमाधिक्य के कारण सात्विक भाव हो आया। चुहलबाजी तो तरह-तरह की नित्य-प्रति हुआ करती थी। कृष्ण सदा ऐसे मौको की तलाश मे रहते। फिर मित्र-मित्र व सहेली-सहेली के खीझाने मे भी आनन्द आता है। बस, कृष्ण ने भी राधा के कहने मे राधा की गाये तो दुह दी, पर दोहनी के लिये अब उसे चिढा रहे हैं। बार-बार राधा हाथ-पाव जोडती है, "हा-हा" करती है। राधा की 'हा-हा' में भी कृष्ण को हर्ष होता है। हस पडते हैं और कहते है अच्छा एक बार और "हा-हा" कह दो तो दे दूंगा। राधा को मानना ही पडा। बिना दिल के उसे "हा-हा" कहना ही पडा। बस कृष्ण की मुराद पूरी हुई। उन्होने उसे दोहनी दे दी।

राधा की यह दशा हो गई कि

"यह पुनि कै चकृत भई प्यारी धरणि परी मुरझाई।
सूरदास तब सखियन उर भरि लीनी कुँवरि उठाई॥"

"डसीगी माई श्याम भुजगम कारे।
मोहन मुख मुसकानि मनहु विष जात मरे सो मारे॥
फुरै न मन्त्र-यन्त्र दइ नाही चलै गुणी गुण डारे।
प्रेम प्रीति विष हिरदै लागी डारत है तनु जारे॥
निर्विष होत नही कैसेहु करि वहुत गुणी पचि हारे:
सूरश्याम गारुडी विना को सो शिर गाडू टारे॥"

ऐसे-वैसे सर्प ने नही डसा है, भुजग ने डसा है। उस पर भी काले भुजंग ने। भला काले भुजग का विष कैसे उतर सकता है? अच्छे-अच्छे जत्री-मत्री क्यो न आओ, उसका उपचार तो केवल एक है। वह नन्द सुत ही है जो उसे जीवित कर सकते है, अतएव माता भी क्या करे। जिस काले ने काटा है वही जिलायेगा। वही भुजगम है और वही गारुड़ी।

चीरहरण के सूर ने दो प्रसग कहे हैं। एक बार तो जब गोपिया नहा रही थी, ये उनके वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ गये और उनको नग्न नहाते हुए देखने लगे। गोपियो ने अपने चीर मागे पर उन्होने तब तक नही दिये जब तक कि वे नग्न होकर बाहर न निकली। इसी प्रकार एक बार यमुना किनारे से उनके चीर लेकर भागे और उनके चिल्लाने पर लोगो ने सुना तब यह छोडकर कर भागे। ये वर्णन अत्यन्त अश्लील हैं। पर सूर बार-बार कृष्ण को भगवान भी गोपियो द्वारा कहलाते गये है। साथ ही साथ यह भी कहलाते गये है कि ये भगवान हैं, इनसे कुछ छिपा नही है और पूर्व भव में तो गोपियो ने ऐसा ही वरदान मागा था। ये वर्णन अश्लील अवश्य हैं; किन्तु मनुष्य जब तल्लीन होकर गोपियो और कृष्ण के सम्बन्ध में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

देखता है, वहाँ वासना का आभास तक नही दिखाई देता। अश्लील और अरुचिकर यह केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इससे सर्वसाधारण जनता मे जो तल्लीनता को प्राप्त नही हो सकती है, कुरुचि एव कुत्सित वासना के भाव जाग्रत हो सकते है। यहाँ केवल इन प्रसगो को काव्यानन्द की ही दृष्टि से पढना चाहिये। सदैव यह ध्यान बनाये रखना चाहिये कि सूर महात्मा थे और इन पदो में भक्ति-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। जहाँ भक्ति-भाव एव तन्मयता होगी, वहा कुत्सित भावना कभी अपना स्थान ग्रहण नही कर सकती।

इसके अनन्तर पनघट का किस्सा प्रारम्भ होता है। यह भी अश्लीलता से खाली नही, पर बडा मनोरजक है। श्याम की धृष्टता उत्तरोत्तर बढती जाती है। व्रजनारिया खीझती हैं, तग हो जाती है पर उन्हे बुरा नही लगता। कभी-कभी मिथ्या ही या लोक-लाज-वश वे माता यशोदा को उलाहना देने अवश्य पहुँच जाती हैं, पर उनके हृदय में उलाहना देने की अभिलाषा नही। प्रत्युत एक बार और कृष्ण से भेट और दर्शन होने की तीव्र उत्कठा रहती है। श्याम का तो यह दैनिक कार्य ही हो गया है कि पनघट पर जाना और आते-जाते छेड-छाड करना। किसी की गगरी फोड देना तो किसी के पाव मे ककरी मारकर उसे लँगडा कर देना। किसी का मार्ग रोककर खड़े हो जाना। जब कोई शिकायत करने यशोदा के पास जाये और वे इनको डाटे तो उनका बडा साधु बन जाना और कह देना कि माता ये ही तो मुझे तग करती है और मुझसे गागरी उठवाती हैं और तू मुझे मारती है और गाली देती है।

इसके पश्चात गोवर्धन पर्वत उठाने एव इद्र-अभिमानहरण के विषय मे सूर ने लिखा है। नन्द वरुण को ले गये है। फिर दानलीला का वर्णन है। दानलीला भी अश्लील है। कृष्ण गोपियो से गोरस(इद्रिय-

मूल) का ही दान मागते है। इन शब्दो में श्लेष होने के कारण उनका दान मागना भी अच्छा मालूम पडता है। एक गोपी से कृष्ण गोरस माग रहे हैं। वेचारी वन में से अकेली जा रही थी। तग आ गई। वही कृष्ण से प्रार्थना कर रही है। उसकी विवशता मे, उसके भोलेपन में भी चित्त आकर्षित हो जाता है; पर कृष्ण डटे हुए हैं। यह कृष्ण को समझा रही है

"ऐसो दान न माँगिये जो हम पै दियो न जाइ।"

इस तरह विचित्र विचित्र ढग से खोज-खोजकर नवीन-नवीन दान नित्य प्रति कृष्ण गोपियो से मागा करते हैं। श्याम-गो-रस-दान माग रहे थे। सखी इन्हें दान देना अस्वीकार कर रही थी। नौबत यहा तक आ पहुँची कि दोनो में छीना-झपटी होने लगी। छीना-झपटी में श्याम का पीताम्बर उसकी छाती मे उलझ गया। बस फिर क्या था।

"प्यारी पीताम्बर उर झटक्यो।
हरि तोरी मोतिन की माला कछु गर कछु कर लटक्यो॥
ढीठो करन श्याम तुम लागे जाइ गही कटि फेंट।
आपु श्याम रिस करि अकम भरि भई प्रेम की भेंट॥
युवतिन घेरि लियो हरि को तब भरि-भरि धरि अकवारि।
सखा परस्पर देखत ठाढे हँसत देत किलकारि॥

औरो मे दधि दूध माँगते-मागते तो हरि अब थक से गये मालूम पडते हैं, तभी तो राधा के पास पहुँचे और कहने लगे कि कई मटकियो का तो खूब माखन उडाया अब तुम्हारी मटकी का तो बताओ कैसा लगता है। राधा तो यह देख ही रही थी कि मुझसे कब मागे। उसका भी मनोरथ पूर्ण हुआ। चट से दौडी और अच्छा ताजा मक्खन ले आई। कृष्ण ने राधा का दही भी खाया। राधा का दधि-माखन कृष्ण को सबसे अच्छा लगा-

"लै दीन्हो अपने कर हरि मुख खात अल्प हँसि हेरो ।।
सब दिन से मीठो दधि है यह मधुरे कह्यो सुनाइ ।
सूरदास प्रभु सुख उपजायो ब्रज ललना मन भाइ ।।

कारी, धोरी हर प्रकार की गाय का रस वे ले चुके हैं, किन्तु उनका उद्देश्य बस यही है—

"गोपिन हेतु माखन खात ।
प्रेम के वश नदनन्दन नेक नही अघात ।।"

गोपियो को जब बहुत तग कर चुके, उन्हे प्रेम से आह्लादित कर चुके, तब वे अन्त मे अपना अवतार लेने का उद्देश्य प्रकट कर देते हैं। कह देते हैं कि तुम्हारे कारण ही तो मै वैकुंठ त्याग कर यहाँ आया हूँ। तुम्हारा दान मै ले चुका। तुम्हारी प्रेम-परीक्षा हो चुकी। अब तुम घर जाओ। निम्न लिखित पद से यही बात प्रकट होती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी के समान सूर भी यह नही भूलते हैं कि उनका सखा कृष्ण भी अवतार है। कई प्रसँगो से इस कथन की पुष्टि होती है।

"सुनहु बात युवती इक मोरी ।
तुमते दूर होत नही कतहूँ तुम राखो मोहि घेरी ।।
तुम कारण बैकुंठ तजत हो जनम लेत ब्रज आई।"

इधर यह प्रेम-कथा परिपूर्ण हो ही नही पाई थी कि कृष्ण ने कस-वध आदि कार्यों के लिए मथुरा जाने का प्रसग छेड दिया। उनका कहना तो दूर रहा यहा बजबालाओ के होश-हवास ही गायब हो रहे हैं। देखते-देखते इतने थोडे समय ही में उनका इतना प्रेम हो गया है कि वे चलने का समाचार सुन इतनी विह्वल हो गईं कि बेसुध यहाँ-वहाँ घूमने लगी है। दधि-दूध बेचने को निकलती हैं, पर रीती मटकी लेकर ही चल देती हैं। यदि भाग्यवशात भरी मटकी पर

मे ले चली और कोई बुलाता हो तो भी उनके श्रवण में तो कृष्ण प्रेम-रस-नाद ऐसा गूंज रहा है कि उन्हे और कुछ सुनाई ही नही देता है। कोई बुलाता है, बुलाता रहे, कुछ चिन्ता नही। सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम के समान चेतना-शून्य-सी हो द्रुम-लताओं को ही दही, दूध, माखन बेचती फिरती हैं। जहा बैठ रही वही बैठी रह गई। 'हजरते दाग जहा बैठ गये बैठ गये।' चल रही हैं तो चल ही रही हैं। जिस गली में से निकलती हैं उसी में से बार-बार आने-जाने लगती हैं। जब कहीं सुध आती है तो समय बेसमय घर पर पहुँचती हैं। घर पर खूब ताडना होती है, वह भी सहती हैं, सुनती हैं। लोक-लाज का तो डर ही निकल गया है। कोई कुछ भी कहे। प्रेम-रंग में सब बातें ऐसी अन्तर्हित हो गई हैं कि कोई दूसरी बात, कोई दूसरा रग ही नही दिखाई देता है। इन विरह से व्याकुल ब्रज-वनिताओं की वियोग-दशा का कुछ आभास इस पद से प्रकट होता है -

"गोरस लेहु री कोउ आइ।
द्रुमन सों यह कहति डोलति कौन लेइ बुलाइ॥
कबहुँ यमुना-तीर को सब जात हैं अकुलाइ।
कबहुँ बंसीवट निकट जरि होत ठाढी धाइ॥
लेहु गोरस दान मोहन कहां रहे छिपाइ।'

कहा तो पहिले श्याम को उलाहना दिया जाता था। दान मागने पर हठ प्रकट की जाती थी। दही-दूध छुड़ाने पर, मटकी फोडने पर क्षणिक बाह्य क्रोध प्रकट किया जाता था। कहा अब श्याम को दान देने बुला रही हैं। आज तो वे उन सब बुराइयो को सहने के लिए भी उद्यत है। कोई उनसे कुछ न कहो, माता पिता चाहे रुष्ट हो कुछ चिन्ता नही। लोग यदि उपहास करें, तो करने दो, श्याम का प्रेम तो छुटाये से नही छूटता। परलोक भी नष्ट हो जाय तो परवाह नहीं।

बस, इसी दशा का वर्णन एक सखी निम्नलिखित दो अंशो मे कर रही है जिससे उनकी वियोग-दशा की परम चिन्ता का अनुमान हम कर सकते हैं।

"नन्दलाल से मेरो मन मान्यो कहा करेगो कोई रे।
मैं तो चरण कमल लपटानी जो भावे सो होई री ॥
बाप रिसाइ माइ घर मारे हँसै बिरानो लोग री ॥"

कारण यह कि उपहास मे यदि डरें तो कैसे बन सकता है क्योकि

"कैसे रह्यो परै री सजनी एक गाव को वास।
श्याम मिलन की प्रीति सखी री जानत सूरजदास ॥"

इसलिए बस अब तो यह ध्रुव निश्चय कर लिया है कि

"सब या ब्रज के लोग चिकनिया भेटें भाये घास।
अब तो यही बसी री माई नहि मानोगी त्रास ॥"

इस विरह-वर्णन के पश्चात् सूर फिर कृष्ण राधा का रूप वर्णन, कही नखशिख-वर्णन करने लग जाते हैं। सूरसागर मे यद्यपि कथा का क्रम है, किन्तु वर्णन का क्रम नही है। इसीलिए पुनः पुन उसी प्रकार के पद मिलते हैं, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उनमें पुनरावृत्ति है अथवा वे अरोचक हो गये हैं। रोचकता, सुन्दरता, पदमाधुरी, भाव-प्रवणता उसमें उसी प्रकार से बनी रहती है। देखिये इस भाव के पद वे पहिले भी कह चुके हैं। उसी भाव को उन्होने फिर उठाया है। पर उसमें वर्णन-शैली की मोहकता के कारण कुछ भी अरोचकता नही है।

"माखन की चोरी तें सीखे करन लगे अब चितहुँ की चोरी।
जाके दृष्टि परे नद-नदन सोउ फिरत गोहन डोरी-डोरी ॥"

ऐसा क्यो होता है इसका उत्तर भी सूर बडी खूबी के साथ

देते हैं-

"क्यों सुरभाऊँ री नन्दलाल सों अरुझि रह्यो मन मेरो।"

चोर जब चुरा ले जाता है तब यही अभिलाषा रहती है कि उससे चोरी का माल लौटा लिया जाय। पर हृदय या हृदय-सर्वस्व वस्तु ले जाय तब तो उसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था होनी चाहिये। चित चोर श्याम को भी एक व्रजबाला कितने चित्ताकर्षक ढंग से पकड रखने के लिए कहती है

"चित को चोर अबहिं जो पाऊँ।
हृदय कपाट लगाइ जतन करि अपने मनहि मनाऊँ॥
जबहिं निशक होन गुरुजन ते तेहि औसर जो आवै।
भुजनि धरौ भरि सुदृढ मनोहर बहुत दिनन को फल पावै॥
लै राखौं कुच बीच चापि करि प्रतिदिन को तन ताप बिसारौ।
सूरदास नद-नन्दन को गृह-गृह को डोलनि को श्रम टारौ॥"

परोक्ष रूप से कैसी सुन्दर उक्ति यह गोपिका कह गई है? यह अपने चित्त का चोर ढूढ रही थी। आखिरकार ढूढते-ढूढते उसने चोर को पकड ही लिया। चित-चोरी जब मिल गया तब उसे पकडकर क्या कोई छोड देता है? वह चोर ही नही था, सिरजोर था। वह चोर ऐसा चोर नही था जो कठिनाई से मिले। समस्त व्रज की गलियो में चोरी करके ढीठ बना फिरता था। व्रजबाला ने उसे जोर से पकड लिया और उससे कहने लगी लला, अब बचकर कहा जाओगे? अब तो तुम्हें मेरा चित्त, जिसे तुमने चुरा लिया था देना ही पड़ेगा। अब तुम नही छूट सकते। चाहे तो सीधे दे दो, चाहे टेढे। तुम्हें चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो। अब मै न मानूगी। पर चोर ने चोरी कर ली थी और वह ऐसा धृष्ट था कि सीधे से बात ही नही करता था। इसी लिए उसे इतना सुनना पडा। वह कहती है तुम्हारा और किसी से

पहिले काम पडा होगा। आज तो मुझसे काम पडा है

> मैं तुमरे गुण जानत श्याम।
> औरन को मनचोर रहे हो मेरो मन चोरे किहि काम ॥
> वे डरपति तुमको यों काहे मोको जानत वैसी वाम।
> मै तुमको अवहीं बाँधौगी मोहि बूझि तव धाम ॥"

ठीक है। भला वह कब दया करे। जिसका चित्त श्याम ने कठोरता से चुरा लिया और धृष्टता यह कि व पिस देना ही नहीं चाहते। चोरी से ही मुकरे। इसीलिये जब उस व्रजवाला के फंदे में पड़ गये तो उसने छोडना ही न चाहा। उसे तो ऐसा मनोहर क्रोध आ रहा था कि यदि और कोई उसके बीच मे बाधा देता तो वह उसको भी खबर लिये बिना न छोडती। कुल-कानि के बीच ही मे आकर कृष्ण को छुडाने का उपाय करने लगी। पर आज तो वह अपनी परम प्रिय सखी का कहना भी नही मानेगी। यदि उसने अधिक प्रयत्न किया तो उससे झगडा तक कर लेगी। और यही तो वह अपनी सखी कुलकानि से कहती है

> "सुन री कुल की कानि लाजन सो मैं झगरो माडौंगी।
> मेरे इनके कोउ बीच परो जिनि अधर दशन खाडौंगी ॥
> चतुर नाइक सौं काम पर्यो है कैसे ह्वै छाडौंगी।"

राधा तो उनको परम प्रिय थी ही। एक दिन उसका अंक भरना राधा की सखियो ने देख लिया। वे पूछने लगी। राधिका चतुरता से उत्तर देकर उन्हें बहका देती है। उनसे वह कहती है मैं तो तुम्हारा मार्ग देख रही थी। मेरा ध्यान तो तुम लोगो की ओर था। मैं क्या जानूं कि उस ओर से मनमोहन आ रहे है ? वे तिरछे-तिरछे आकर मेरे पास से निकल गये। घर देर से पहुंची, क्योंकि मार्ग में यही सोचती जा रही थी कि अब कृष्ण से किस प्रकार भेंट हो। सोचते

विचारते उसने एक अच्छा उपाय सोच ही लिया। अपना हार छिपाकर रख लिया। जब घर पहुंची तो माता ने हार उसके गले में नहीं देखा। देर से पहुँचने के लिये तो वह क्रुद्ध हो ही रही थी, अब हार न देखकर तो आगबबूला हो गई और राधिका को तरह-तरह से ताडना देने लगी। कहने लगी कि तुझे आज से आभूषण पहिनने को नही मिलेंगे। बता तू कहा गिरा आई ? राधा ने कहा मुझे मालूम नही वह यमुना में गिर गया या किसी सखी ने उतार लिया। सखी का नाम लेते ही मा के मुंह से निकल गयी-- जा, जहा से मिले वहा से ढूंढकर ला, नहीं तो तुझे घर में नही आने दूंगी। राधा तो यह चाहती ही थी। राधा चली हार लेने और पहुंची नद के यहा और लगी 'ललिता' 'ललिता' पुकारने। कृष्ण उस समय भोजन कर रहे थे। समझ गये मेरे कथनानुसार राधा आ गई है। झट से भोजन छोडा और यह बहाना करके निकले कि कोई गाय वन में 'व्या' रही है और मेरे सखा वही जा रहे हैं। कृष्ण भाग खड़े हुए और राधिका से मिल अपना मनोरथ सिद्ध किया। इसके पश्चात् जब राधिका वापिस लौटी तो रास्ते में हार अपनी साडी में से निकाल लिया और जाकर माता को दे दिया।

संयोग शृंगार के इस प्रकार के कई स्थल सूर सागर में हैं। एक दिन राधा को कुछ गर्व हो आया इसलिये कृष्ण उसके द्वार पर से निकलकर चले गये। ज्योंही राधा को यह बात विदित हुई, त्योंही वह द्वार पर आई और श्याम के न मिलने से पश्चात्ताप करने लगी। उसे बड़ा दुख हुआ। वह कहती है और पूछ जाती है कि आज मैंने कहाँ से गर्व कर लिया। इसी प्रकार एक दिन राधा दर्पण में अपनी सुन्दरता देख रही थी। कृष्ण भी वहीं आकर खड़े हो गये। एक बार उन्होंने उसकी आंखें मूंद ली।

श्याम मुरली बजाने में चतुर थे ही, उनकी मुरली ने व्रज-

वासियो पर जादू ही कर दिया । कृष्ण का दैनिक-कार्य वन-वन में वशी बजाकर ब्रजनारियो को विमुग्ध करना था । राधिका भी उनकी ब्रज-माधुरी पर मुग्ध है। एक दिन तो राधिका स्वय बासुरी सीखने के लिए हठ करने लगी । बोली श्याम जिस प्रकार से होगा तुम्हे प्रसन्न करूंगी, पर आज तो तुमसे वासुरी ले ही लूंगी । श्याम क्यो दने लगे राधिका के हठाग्रह में श्याम का मनोरजन था, पर राधिका भी वशी लेने पर तुली हुई थी ।

"मुरली लई कर ते छीनि ।
ता समय छबि कहि जाति न चतुर नारि नवीनि ॥
कहत पुनि-पुनि श्याम आगे मोहि देउ सिखाइ ॥
मुरली पर मुख जोरि दोऊ अरस-परस बजाइ ॥"

उनका वनोपवनो में सखियो समेत कौतुक-क्रीडा करना भी कितना सरस, भावुकता पुर्ण और आनदातिरेक का चिन्ह है । कभी कृष्ण राधिका की आखे पीछे से आकर बन्द कर लेते हैं, कभी किसी दूसरी सखी की । कभी ललिता के गृह पर जाकर उसे विमोहित करते हैं तो कभी किसी दूसरी के यहा । सखियो के नेत्रो ने भी बड़ा धोखा उनके हृदय के साथ किया है ; अब सखी-सखी मिलती हैं तो सिवाय श्याम के आकर्षण-सम्मोहन के अन्य और कोई प्रसग ही नहीं चलता ।

कोई कहती है

"सजनी मनहि का काज कियो ।
आपुन जाई भेद करि हमसो इन्द्रिह बोलि लियो ॥"

कोई कहती है

"मेरे जिय इहई सोच परयो ।

मन के ढग सुनोरी सजनी जैसे मोहि निदरयो ॥
आपुन गयो पच सग लीन्हे प्रथमहि इहै करयो ।
मोंसो बैर प्रीति करि हरि सो ऐसी लरनि लरयो ॥"

यह तो मन की गति हुई, अब नेत्रो का हाल सुनिये । एक दूसरी सखी क्या कहती है

"मन के भेद नैन गये माई ।
लुब्धे जाई श्यामसुन्दर रस करी न कछू भलाई ॥
जबहि श्याम अचानक धाये इकटक रहे लुभाई ।
लोभ सकुच मर्यादा कुल की छिनही में बिसराई ॥"

वास्तव में ये पद भी अपने विषय के वर्णन मे अनुपम हैं। इनके पढने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहा सूर भावुकता के आवेश में अश्लील से अश्लील पद लिख गये हैं, वहा वियोग-वर्णन भी उनका अनोखा ही है। सयोग-शृगार के समान विप्रलभ-शृगार भी उनका अद्वितीय है। सूर ने यदि केवल सयोग शृगार ही लिखा होता, तो वे अवश्य अश्लीलता-दोष के भागी होते। किन्तु जितना सजीव उनका सयोग शृगार है, उससे कही अधिक मार्मिक विप्रलम्भ। सूर की अतःसूक्ष्मवृत्तिया वियोग का भी उतना ही हृदय स्पर्शी चित्र खीचती हैं। उनमें तरह-तरह के रग भरकर उसे चरम कोटि पर पहुँचा देती है। इससे केवल यही प्रकट नही होता है कि व्रजबालाओ, एव यशोदा व नद आदि का उन पर क्षणिक स्वार्थमय अथवा आनन्द-उपभोगकारी प्रेम ही था; किन्तु उस प्रेमकी पराकाष्ठा हमें वियोग-जन्य अवस्था में ही विशेष रूप से देखने को मिलती है। वियोग-वह्नि में वह प्रेम और भी निखर आया है। स्पष्ट, व्यापक तल्लीनता एव अनन्यतामय भी हो उठा है। इसकी कथा इस प्रकार है, कि अक्रूरजी यह जानकर कि कस-वधका समय निकट आ रहा है,

सूर के भ्रमर गीत

कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए गोकुल में आते है। नियति-वश कृष्ण वहा जाने के लिये प्रस्तुत होते है, पर ब्रजवासियो का ऐसा प्रेम है कि अक्रूर भी इस दुविधा मे पड जाते है कि कृष्ण को ले जायँ या नहीं। अत में उन्हे ले जाते है। इधर समस्त व्रज वियोग-वह्नि में त्रस्त होने लगता है। यशोदा माता के दुःख का पार नहीं। वे नंद से आग्रह कर उन्हें मथुरा भेजती है। नद कृष्ण को देख अवश्य आते है, पर वे वहा उन्हे राज कार्यों में इतना निमग्न पाते है कि उन्हे लाने का साहस नही होता। जब तक वे वापिस नही लौटे तब तक तो यशोदा एव अन्य ब्रजवासी बेहाल थ, पर लौट आने पर कुछ पार ही नही। किसी प्रकार थोडा भी धैर्य जो वे अपने हृदय-स्थल में छिपाये थे, अब नही रहा। हृदय का बाध एकदम टूट गया। वे इतने विह्वल हो गये कि अपना-विराना छोड बस एक कृष्ण का ध्यान ही उन्हे बना रहने लगा। उनकी वियोग-जन्य दशा का वर्णन करना शक्ति के बाहर की बात है। इसका समाचार कृष्ण को मिलता रहता है। उन्हें ब्रजवासियो से प्रेम भी है। उनके वियोग का दुःख भी है, पर वे कठोर कर्त्तव्य और राजनीति की बेडिया पहिने विवश है।

यह बात नही है कि श्रीकृष्ण को अपने प्यारे गोकुल अपनी प्यारी मा, बाबा, राधिका तथा अन्य ब्रजबालाओ का ध्यान न हो। जब कभी राज्य-कार्यों से निवृत्त होते, तभी गोकुल उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता। मथुरा में राज्य-वैभव का अभाव नही है; किन्तु गोकुल की रज-रज का स्मरण उन्हे बना हुआ है। कभी-कभी तो वे सोचने लगते है कि नन्द बाबा अवश्य ही कठोरहृदय हो गये है, तभी तो उन्होने अभी तक सुधि न ली। मा यशोदा ने भी उन्हें स्मरण नही दिलाया। कभी सोचते, राधिका के हृदय पर क्या बीतती होगी ? ब्रजयुवतिया किस दाह में जल रही होगी। ऐसे ही समय उद्धव महाराज आ पहुँचे। उनसे

ब्रज में संदेशा पहुँचाने के लिए चर्चा चलाई। मित्र को मानना ही पड़ा। उनसे कहते-कहते ही गोकुल का स्मरण फिर हो आया। धौरी धूमरी गायों की याद आ गई। उद्धव ज्ञान के ही चक्कर में फँसे थे। कृष्ण इसी दलदल में से निकालने के लिए समाचार भेजते हैं। इस वर्णन में कितनी स्वभाविकता है? कितनी तल्लीनता; कितना प्रेम, कितना चोज, कितना सूर का अवलोकन और अनुभूति है। सूर के वे बाल कृष्ण अब राजसिंहासन पर से भी वही बाल-हृदय, बाल-मनोभाव रखते हैं और कहते हैं

"आवेंगे दिन चारि-पाच में हम हलधर दोउ भैया।
जा दिन तें हम तुम तें बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया॥
कबहूं प्रात न कियो कलेवा साझ न पीन्ही छैया।
बंशी बेनु समारि राखियो और अबेर सबेरे।
मति ले जाय चुराय राधिका कछुक खिलौना मेरो।
कहियो जाय नन्द बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो॥
सूर श्याम पहुँचाय "मधुपुरी" बहुरि संदेश न लीन्हो।"

उद्धव महाराज अपनी निर्गुण ज्ञान की गठरी सिर पर धारण कर चले और गोकुल पहुँचे। विरह-विधुरा व्रजबालाओं ने महाराज को दूर से ही देख लिया। एक क्षण तो श्याम की श्यामता का आभास हुआ, पर वे सुखाभास के निर्जल मेघ बिजली की चमक ही में विलीन हो गये और जलद पटल की ओर से उसी रंग-रूपवाले वैसी बनहारवाले, वैसी ही बोलनिवाले उपग सुत दिखाई दये। बस लता पर पाला पड़ गया। गोपियाँ उद्धवजी को आते हुए देख बात-चीत करती हैं

"कोउ आवत है घनश्याम।
वैसेइ पट वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर दाम॥

जैसी हुति उठि नँसिय दौरी छाँडि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गद-गद भई तिहि छन सोचि अग अभिराम।
इतनी कहत आय गये ऊधो रही ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभू ह्यॉ क्यो आवे बँधे कुब्जा रस श्याम।"

अतिम पक्ति में स्त्री-हृदय की कितनी मजुल व्यञ्जना, कितना तीखा व्यग, कितनी मार्मिकता एव हृदय की जलन छिपी हुई है।

इतने में वे सब युवतियाँ क्या देखती हैं श्रीकृष्ण-सखा ने, जैसा उन्हे पीछे ज्ञात हुआ, नन्द के द्वार पर रथ ठहरा दिया। यही ग्राम्य जीवन का चित्र खिच जाता है। सब ब्रजवधुएँ गृह-कार्य छोडकर आ पहुँचीं। गोकुल में ये अतिथि तो थे ही, कोई इनका स्वागत करने लगी, कोई आरती उतारने लगी इत्यादि भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करने लगी। यह सब हो ही रहा था कि इन्होंने आव देखा न ताव और लगे अपनी निर्गुण की गठरी खोलने और भगवान के सगुण रूप का रस चाखने वाली भोली-भाली गोपियो को ज्ञान का उपदेश झाडने। वह परमात्मा तो निर्गुण है, निराकार है, उसके आख, कान, नाक कुछ भी नही है। वह अनादि, अखण्ड, अलख है। वही सर्व-शक्तिमान है, हृदय के ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। अतएव तुम कृष्ण का, ब्रजबालाओ के प्यारे कुँवर कन्हैया का ध्यान छोड दो। पर आप सोच सकते हैं जो साक्षात कुँवर कन्हैया को इहलौकिक लोचनो से निहार चुकी थीं, जिनकी पुतलियो को अपने हृदय में बैठा चुकी थीं, भला उसे वे कैसे निकाल सकती थी। हाथ का रत्न त्याग किस काच की आश उन्हे दिलाई जा सकती थी। अतएव मधुर शब्दों में झट प्रत्युत्तर भी दे दिया।

"गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग अग साधन जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥

यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहती चरननि रसरासी
अपनी सीतलताहि न छाड़त यद्यपि है ससि राहु गरासी ॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी ॥
सूरदास ऐसी को विरहिन मागति मुक्ति तेजगुणरासी ?

खैर तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि निर्गुण ब्रह्म का आराधन, योग-साधन उत्तम है, किन्तु हमारे मन मे वह एक भी नही बैठती। आज से हमारा प्रेम हो सो बात नही है। यौवन-समय की प्रीति में उन्माद रहता है, उस समय स्वार्थ-भावना का भी अश किसी न किसी रूप में सन्निहित रहता है, पर जो प्रीति लगोटिया यारो में होती है, वह श्मशान भूमि तक स्थायी रहती है। श्याम की प्रीति का अकुर बाल्यावस्था मे ही उत्पन्न हो गया था, तभी तो गोपिया कहती हैं

"लरिकाई को प्रेम, कहो अलि कैसे करिकै छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित अब अन्तर गतिया लूटत ॥"

जो आखे हरि दर्शन की भूखी हैं, उन्हे शुष्क ज्ञान का उपदेश कैसे सुहा सकता है। इसीलिए बेचारी अबलाओ के खिन्न हृदय में ये बाते और भी घाव पर नमक छिड़कनेवाली हो जाती हैं। वे कहती हैं

"अँखिया हरि दर्शन की भूखी।
कैसे रहे रूप रस राची ये बतिया सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहि झूखी।
अब इन जोग सदेशन ऊधो अति अकुलानी दूखी ॥"

प्रेम भी एक धुन है, राग है, तल्लीनता है और एक अलौकिकता है। इसका मधुर रस एक बार जिसने आचमन कर लिया, वह इसकी माधुरी पर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे अन्य सब वस्तुएँ

या रस फीके विदित होने लगते हैं। गोपियां भी इसी प्रेम-माधुरी का आस्वादन कर चुकी हैं। इसी रग में रँग चुकी हैं और इसे ही अपना जीवनाश्रय बना चुकी है। अतएव उद्धव का, समझाना, ज्ञान का रस पिलाना अच्छा नही लगता। इसी लिए जब उद्धव ज्ञान-कथा कहते ही चले जाते है, बिना इस बात पर विचार किये कि इसका प्रभाव गोपियों पर कैसा पड़ेगा, उन्हे यह विषय अरुचिकर होगा या नही, तब वे भी खीझकर कह उठती है

"हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान-कथा हो ऊधो मथुरा ही ले जाव॥
पालागों, इन बातनि, रे अलि, उनही जाय रिझाव।
सुनि प्रिय सखा श्यामसुन्दर के जो पै जिय सत भाव॥"

पर ऊधो को यह ज्ञात नही कि अबला चञ्चल गोपियों ने भी अपने मन को सबल और अचञ्चल बना लिया था। वे भी आज केवल एक बात पर, भगवान के एक स्वरूप पर मोहित हो गई थी। उन्हे अब अन्य से कुछ प्रयोजन नही था। 'हमन हैं इश्क मस्ताना हमन को अन्य से क्या है।' उनके हरि तो हारिल की लकडी हो गये थे, जिनके सगुण रूप को इन्होने इतनी दृढ़ता से अपने हृदय रूपी मुख मे पकड़ लिया था कि वे छोड ही नही सकती थी। उन्हे एक ध्यान है, एक रग है, एक बात है, एक धुन है। सोते-जागते, खाते पीते, उसी मूर्ति ने उनके अन्तस्तल पर एकछत्र अधिकार प्राप्त कर लिया है। अतएव उद्धव का उपदेश चिकने घड़े पर पानी हो जाता है और वे उत्तर देती हैं

"हमारे हरि हारिल की लकड़ी।
मन-वच-क्रम नंद-नदन सो, उर यह दृढ करि पकरी॥
जागत सोवत सपने सो सुख कान्ह-कान्ह जकरी।

सुनत ही जोग लगत ऐसो अति ज्यो करुई ककरी ॥
सोई व्याधि हमें ले आये देखी सुनी न करी ।
(अतएव) देखो यह तो सूर तिन्हे ले दीजै जिनके मन चकरी ॥"

सब गोपिया विरह में डूबी हुई हैं, पर जब वियोग - दुख बढ़कर चरम सीमा पर पहुँच जाता है या कोई भी दुःख जब अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है, तब वह दुख ही नही रहता है। कभी-कभी तो न दुख ही रहता है और न दुखी ही रह जाता है। 'दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना।' इसी दुख से परे अवस्था में व्रजवनिताओ को भी कभी-कभी सुखाभ्यास की झलक दिख जाती है। उसी' के शरीर में उन्हे विनोद सूझ जाता है; वे उद्धव को मूर्ख बना देती हैं और कुछ प्रश्न पूछने लगती हैं

"निर्गुन कौन देश को बासी !
मधुकर हँसि समुझाय सोंह दे बूझति साच न हासी ।
को है जनक जनानि को कहियत, कौन नारि को दासी ।
कैसो बरन भेष है कैसो वहि रस में अभिलासी ॥"

इतना कहते-कहते ही उन्हे अपनी सुधि आ जाती है, वे प्रकृत बात पर आ जाती हैं और कह उठती हैं

"पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे कहेगो गासी ।"

इस हृदयाग्नि का प्रभाव भी ऊधो पर खूब पड़ता है और उसकी दशा यह हो जाती है "सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ।'

उन्हे कुछ और विनोद सूझता है और वे इसका आनन्द स्वय ही नहीं उठाना चाहती, अपनी अन्य सखियो को भी चखाना चाहती हैं—

"खायबे को स्वाद जो पै और को समाइये।'

निकट खड़ी हुई अन्य सखियों से कोई एक कहती है। विनोद की मात्रा बढ़ाने के लिए कितना व्यंग है इस पद में। बहुधा स्त्रियाँ इसी प्रकार के व्यंगों में बातचीत किया करती हैं, कारण कि उनके मनोभावों को स्पष्ट करने में पुरुष ने उन्हें बेड़ियों में जकड़ दिया है और वे भी संकोच करने लगी हैं। इसी लिए उन अबलाओं का भ्रम 'निर्बल का बल राम' हो गया है। इसी व्यंग में ये कहती हैं—

"देन आये ऊधो मत नीको।
आवहु री सब सुनहु सयानी लेहु न जस को टीको।
तजन कहत अम्बर आभूषन गेह नेह सबही को॥
सीस जटा सब अंग भस्म अति सिखवावत निर्गुन फीको॥
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर पंजर भये श्याम तन अब न गहत डर जी को॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सो सोच न पोच भली को।
जैसे सूर व्याल डसि भाजत का मुख परत अमी को॥

बेचारी अबलाएँ ठहरीं। मातृत्व का कितना ही भार ये वहन करने वाली हों, किन्तु पुरुषों के क्षणिक आवेशमय प्रेम के तीव्र स्रोत में शीघ्र ही बह जाती हैं। पुरुषों की बातों में आकर अपने जीवन को दुखमय ही नहीं, नष्ट कर देना उनके लिए साधारण बात है। पुरुष कठोर हो जाता है, किन्तु कोमल भावों की रक्षिका देवियाँ कठोर होना नहीं जानतीं। कुब्जा-सदृश निर्मोही से प्रीति करके ही आज उन्हें यह कहना पड़ा। कितनी मर्म-भेदिनी वाणी और अवस्था है उनकी

"निर्मोहिया सो प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय।
कपट करि-करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥

कालमुख तें काढि आनी बहुरि दीनी होय।
मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय॥
सोच आखि में जीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी मधुप आगे दरकि दीन्हो रोय॥"

इन निर्मोही श्याम से इतनी शोचनीय अवस्था होने पर भी, बिना उनके उनकी विचित्र गति है। उन्हे उस श्यामधन के बिना संसार फीका लगता है। कितनी अनन्य भक्ति उनमें ओत-प्रोत भरी हुई है, इस निम्नलिखित पद से विदित होता है। कृष्ण के संयोग में जो लतिकाएँ शीतल लगती थीं, आज उन्हीं के वियोग में वे ज्वाल-मालाओं-सी भयंकर और दाहक हैं। अब उन्हें न यमुना-नीर अच्छा लगता है न पक्षी का कलरव, न कमल-सौन्दर्य

"बिन गोपाल बैरन भई कुजें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुजें॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलें अलि गुजें;
पवन पानि घनसार सजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुजें॥
ऐ ऊधो कहियो माधव सों विरह कदन करि मारत लुंज।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बरन ज्यों गुजें॥"

इस पर ऊधो ने बहुत समझाया कि देखो ऐसे निर्मोही की प्रीति को छोड़ दो। पहिले तो उनके उपदेश का कुछ प्रभाव ही न पड़ा पर उद्धव ने कहा अच्छा तुम अपना हिताहित विचार कर उत्तर दो। भोली बालाओं ने सोचा कि क्षण भर सोचने में क्या हानि है। विचारा, अपने हृदय को टटोला। साहस करके देखा कि माखन-माधुरी का धृष्ट तस्कर हृदय-प्रदेश से बाहर निकलता है या नहीं, पर वह चोर भी साधारण चोर नहीं था। ज्यों-ज्यों वे उसे निकालने का प्रयत्न करतीं

चाहती, वह श्यामसुन्दर उलझी हुई गुत्थियों के समान और उनके हृदय में उलझता जाता। इन भोली बालिकाओं के लिए वह ऊखल से बांधने वाला वीर पर्याप्त था। वह भी वहां जाकर सीधा नहीं तिरछा होकर अड़ गया था। सीधी वस्तु चट से निकल आ सकती है, पर तिरछी नहीं। अतएव जब उन्होंने हृदय को टटोला, तो देखा और बोली

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो तिरछे है जु अड़े।

इतना कहने पर भी उद्धव न माने और हृदय को ही चीरकर उन्हें निकलवाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि निर्गुण ब्रह्म तो है नहीं जो जैसे चाहे निकल जाय। यह तो सगुण ब्रह्म था, भौतिक शरीर के रूप में। अन्त में उन्हें खीझकर यह कह ही देना पड़ा।

"ऊधो तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै किन बेकाज ररौ॥
जाय करो उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की।
कछु कहत कछु वै कहि डारत धुनि देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजे, तुम सों मानी हारि।
याही तें तुम्हे नंदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥"

इधर से इतना तीव्र व्यंग्य कस रही हैं। उधर उनके निर्गुण ज्ञान की हठाग्रहिता पर हँसी भी आ जाती है। यह है भी स्वाभाविक। कभी-कभी जब हम दुःख में डूबे बैठे हों और कोई असमझ की बात विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए कह दे, उस समय हँसी रोकना दुष्कर है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि सूर का अधिकार ऐसे-ऐसे सूक्ष्म स्थलों पर भी उतना ही है, जितना अन्यों पर। गोपियाँ उद्धवजी से कहती हैं—

"ऊधो भली करी तुम आये।
ये बातें कहि-कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये॥"

पुत्र कुपुत्र हो जाय, पर माता कुमाता नही होती। पुत्र कैसा ही कुरूप या बुरा भी क्यों न हो, माता के लिये वह प्रत्येक दशा में प्यारा और सुन्दर दिखाई देता है। माता की ममता तो गृहस्थ-जीवन में प्रत्येक समय देखी ही जाती है; किन्तु इसका चरम विकास उस समय होता है जब उनका लाडला, हृदय का टुकडा, उसका जीवन-धन, नेत्रों की ज्योति उससे विलग होकर अलग जा पडता है। इस समय वह उसके कल्पना-राज्य का, उसके हृदय की निधि का एकमात्र अधिकारी हो जाता है। माता को बार-बार यही ध्यान रहता है कि बाहर मेरे पुत्र को कितना कष्ट झेलना पड रहा होगा, वह क्या खाता-पीता होगा। भ्रमरगीतों में सूर का भी यह कितना मनोहर और हृदयवेदना से परिपूर्ण मार्मिक स्थल है। यशोदा उद्धव के द्वारा देवकी को संदेशा भेजती हैं

"संदेशो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भग जाते।
जोइ-जोइ मागत सोइ-सोइ देती करम-करम करि न्हाते॥
तुम तो टेव जानतहि ह्वैहो तऊ मोहि कहि आवे।
प्रात उठत मेरे लाड़ लडैतेहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसिवासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लडैते लालन ह्वै हैं करत सकोच॥"

यह दशा माता की उस समय है, जब कृष्ण उनके उदर से उत्पन्न हुए पुत्र नहीं हैं और मथुरा में राजसिंहासनासीन हैं, जहाँ उन्हे किसी

प्रकार के कष्ट होने की सम्भावना नहीं है; पर माता का हृदय होता ही ऐसा है। वह तो उसकी आँख से ओझल होते ही अपने पुत्र के कष्ट की कल्पना कर लेती है।

जिसके पास एक से अधिक वस्तुएँ हैं, वह उन्हें बाट सकता है। मन तो विधाता ने प्रत्येक प्राणी को एक ही दिया है—अतएव गोपियों की यह उक्ति सर्वथा न्याय-संगत, उचित, ग्राह्य और तर्क-पूर्ण है

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।

एक हुतो सो गयो हरि के संग को अराधे तुव ईस।।"

एक मन की तो यह अवस्था थी, बेचारी अबलाओं को छोड़कर ही चला गया। वह चला गया तो चला गया, पर इन आंखों का बड़ा विश्वास था, सो इन्होंने भी धोखा दिया। अब इन पर क्यों विश्वास न रहा

"बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि नैनन की परतीति गई।

उडि न मिलै हरि संग बिहंगम ह्वै न गये घनश्याम मई।।"

वियोग की चरमावस्था में यह जंगम जीव जड़वत् हो जाता है। उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता है। वह विह्वल और प्रलापी हो जाता है और जड़-जंगम पदार्थों में, मूक-अमूक प्राणियों में भी कुछ भेद नहीं रखता। तुलसी ने भी सीताहरण के पश्चात् राम की विह्वलावस्था में अचल पदार्थों एवं मूक प्राणियों से उनका संबोधन करवाया है। कालिदास ने भी मेघ द्वारा यक्ष का संदेश पहुँचाना दर्शाया है। सूर के भी निम्न-लिखित दो पद ब्रजवनिताओं की वियोग-जन्य विह्वलता एवं मिलन-व्यग्रता को भली भांति प्रदर्शित करते हैं, यह वियोग की अन्तिम अवस्था है। वे कोकिल से कहती हैं

"कोकिल हरि को बोल सुनाव।

मधुवन तें उपटारि श्याम सों यहँ या ब्रज लै के आव।।

दूसरा पद पपीहे के प्रति है

"कगाव रे, मारंग ! स्यामहि सुरत कराव ।
पौढ़े होहि जहा नदनदन ऊंची टेर सुनाव ॥
गयो ग्रीषम पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव ।
उन बिनु ब्रजवासी यो सोहत ज्यो करिया बिनु नाव ॥
तेरो कह्यो मानि है मोहन पाय लागि ले आव ।
अबकी बेर सूर के प्रभु को नैननि आनि दिखाव ॥"

विरह की इस विषय-वल्लि में, ब्रज की कोमलहृदया बालाएँ जल रही हैं, पर उन्हें अपनी जलन की चिन्ता नहीं है। उनके हृदय में स्वधन सहसा खो देने वाले प्राणी के समान, बार-बार यही बात खटकती है। सूर की यह खटकन कितनी हृदयस्पर्शी और मानव-स्वभाव को दिखाने वाली है

"श्याम को यहै परेखो आवै ।
कहँ वह प्रीत चरन जाचक कृत अब कुब्जा मन भावै ।
तब कत पानि धरयो गोवर्द्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ॥
कत वह बेनु अधर मोहन धरि, लै-लै नाम बुलावै ?
सिव कत लाड लड़ाय लड़ैते, हँसि हँसि कण्ठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हूँ न दिखावै ।
आ मुख संग समीप रैनि दिन सोई अब जोग सिखावै ।
जिन मुख देय अमृत रसना भी सो कैसे विष प्यावै ।
कर मीडति पछताति हियो भरि क्रम-क्रम मन समझावै ।
सूरदास यहि भाँति वियोगिनि ताते अति दुख पावै ॥"

यह पद दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। इससे यह ज्ञात होता है कि सूर सगुणोपासक होते हुए भी निर्गुण स्वरूप के विरोधी नहीं थे। जब तक मनुष्य स्वयं अपने हृदय ही में भगवान को न खोजे, तब तक नहीं

सूर की दार्शनिकता

नही मिल सकता । बाह्य-रूप से कितना ही उसे खोजने का प्रयत्न करो वह नही मिलेगा । किन्तु जब अपने अतर ही मे वह अपने आप मिल जाता है, तब अनन्त आनन्द का स्त्रोत खुल जाता है । उच्च कोटि के साधु-महात्मा ही इस अवस्था पर पहुँचकर इस आनन्दानुभव को प्राप्त कर सकते हैं । संभव है कबीर के अनुकरण पर यह लिखा गया हो

"अपुनपो आपुन ही मे पायो ।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो ॥
ज्यो कुरग नाभी कस्तूरी ढूंढत फिरत भूलायो ।
फिर चेतो जब चेतन है करि आपुन ही तन छायो ॥
राजकुँआर कठ मणि भूषण भ्रम भरयो कहूँ गँवायो ।
दियो बताई और सतजन तब मनु को पाप नशायो ॥
सपने माँही नारि को भ्रम भयो बालक कहू हिरायो ।
जागि लख्यो ज्यो को त्यो ही है नाकहुँ गयो न आयो ॥
सूरदास समुझै की यह गति मन ही मन मुसकायो ।
कहि न जाहि या सुख की महिमा ज्यो गूगो गुर खायो ॥"

रामचन्द्रजी का ससार का भार उतारने के लिए जन्म हो चुका है । समस्त अयोध्या ही मे नही वसुधा भर में, यहा तक कि त्रिभुवन में भी आनन्द ही आनन्द छा गया है । सब लोग जहाँ-तहाँ फूले-फूले फिर

सूर द्वारा श्रीराम का चित्रण

रहे हैं । किसी को किसी बात की सुध नही है । महाराज दशरथ भी याचको को मन-माना द्रव्य लुटा रहे हैं । जिसने जो माँगा वह पाया है

"आज दशरथ के आगन भीर ।
आये भुव भार उतारन कारन प्रगटे श्याम शरीर ॥

फूले फिरत अयोध्यावासी गनत न त्यागत चीर ।
परिरम्भण हँस देत परस्पर आनन्द नैनन नीर ॥"

अयोध्या में इस प्रकार से आनन्द मनाया ही जा रहा था कि धीरे धीरे रामचन्द्र बडे हो गये। अब उन्हे क्षत्रिय बालक होने के कारण छोटी छोटी तीर, कमानें दे दी गई हैं। सुन्दर, लाल पाँवो मे पद-त्राण पहिन यहाँ-वहाँ खेलते फिरते हैं। यह दृश्य किसे मोहित न कर लेगा,

"करतल शोभित बान धनुहिया।
खेलत फिरत कनकमय आगन पहिरे लाल पनहिया॥
दशरथ कौशल्या के आगे लसत सुमन की छहिया।
मानो चारि हंस सरवर ते बैठे आई सदहियां॥

अब रामचन्द्र और बडे हो गये हैं। विश्वामित्रजी उन्हें दशरथ से ताड़कादि के वध-निमित्त माग लाये हैं। उनका वध हो गया है। राम मिथिला पहुँच गये हैं। धनुप-यज्ञकी तैयारी हो रही है। सभा भरी है। सीताजी ने जब से रामचन्द्र को देखा है, तब से उनकी यही इच्छा है कि वे ही धनुष तोड सके, किन्तु उनकी सुकुमारता एव धनुप की कठोरता के कारण उन्हें हृदय मे भय है। ईश से प्रार्थना करती हैं।

आसानी से राम धनुप तोड डालते हैं। विवाह हो रहा है। कई रीति-दस्तूर तो हो चुके हैं अब कगन खोलने का दृश्य उपस्थित है। इस समय अब भी स्त्रिया इकट्ठी होकर बडा हास्य-विनोद किया करती हैं। क्योकि यही प्रथम ऐसा अवसर मिलता है, जब कि वधु-गृह की स्त्रियों को वर देखने का पूरा सौभाग्य मिलता है। सूर की यही तो विशेषता हृदय को मुग्ध कर लेती है। वे यह भली भाँति जानते हैं कि सर्वोत्कृष्ट वर्णनीय स्थान कौन-कौन हैं।

सात्विक स्वेद के कारण -

"कर कपै कंगन नहिं छूटै ।

राम सुपरस मगन भय कौतुक निरखि सखी सुख लूटै ॥

गावत नारि गारि सव दै-दै तात भ्रात की कौन चलावै ।

तव कर डोर छूटै रघुपति जू कौशल्या माइ बुलावै ॥

पूगी फल युत जल निर्मल धरि आनी भरि कुंडी जू कनक की ।

खेलत जूप युवक युवतिन में हारे रघुपति जीति जनक की ॥"

किन्तु सूर द्वारा श्रीराम के चित्रण के सम्बन्ध में इतना अवश्य दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण और राम में कुछ अन्तर न मानते हुए भी उनकी आंतरिक वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-चित्रण ही की ओर अधिक झुकी हुई थीं। यही विशिष्ट व्यक्तियों का व्यक्तित्व दिखाई देता है। कवि सूर कवि तुलसी से ऐसे ही स्थलो पर वैषम्य रखता है। वैसे सिद्धांती सूर और तुलसी में, भक्त सूर और तुलसी में कोई अन्तर नहीं है यदि सांप्रदायिकता के सिद्धांत पर विचार न किया जाय। और वास्तव में सूर और तुलसी विभिन्न सम्प्रदायो में रहते हुए भी उनकी साधारण काव्योचित बातों से प्रभावित नहीं हुए हैं। वे सदा साम्प्रदायिकता से उसमें रहते हुए भी, ऊँचे उठे हैं। यही उनकी विशेषताएँ हैं।

सुन्दर वस्तुओ मे सुन्दरता देखना तो एक साधारण बात है। अल्पज्ञ और साधारण व्यक्ति भी देख सकते हैं, किन्तु असुन्दर में सुन्दरता ढूंढना एक महाकवि की पैनी दृष्टि वाले सहृदय ही की विशेषता हो सकती है।

सूर का श्यामता वर्णन

वैसे भी साधारण जनसमुदाय कालेपने की असुन्दर वस्तुओ में गणना करता है। पर भार-

नीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने असुन्दर में भी सुन्दर को देखा है, जैसा कि आजकल के पाश्चात्य-कला मर्मज्ञ भी देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। गौरवर्ण आर्यों ने भी उच्च भावना तथा पैनी दृष्टि के कारण ही सम्भवतः द्रविड सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता के प्राणों को भी यही श्यामता प्रदान की है। राम और कृष्ण के श्यामल वर्णन में भी यही भाव अन्तर्निहित है। बड़े गौरव के साथ हमारे साहित्यकारों ने इसे अपनाया है। हमारे साहित्य का निन्यानवे प्रतिशत से अधिक भाग राम और कृष्ण की भक्ति पर अवलम्बित है और उनका वर्ण भी श्याम ही माना गया है।

आज से लगभग १०० वर्ष पहिले आंग्ल-सभ्यता के प्रादुर्भाव अथवा श्वेताश्वेत के भाव ने 'दीनदयालु' सदृश साधु एवं वैरागी के हृदय में भी शायद एक ठेस पहुँचाई थी। सम्भव है इसी कालेपन की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें इसे अपनाना पड़ा हो। श्यामतों के आधार घनश्याम तो मौजूद थे ही, इसी पर अवलम्बित हो, अपनी भक्ति की सरिता से परिप्लावित उस ठेस को वे यह रूप दे सके।

"कारो जमुना जल सदा, चाहत हौं घनश्याम।
विहरत पुंज तमाल के, कारे कुंजन ठाम॥
कारे कुंजन ठाम, कामरी कारी धारे।
मोर पखा सिर धरे, करे कच कुंचित कारे॥
बरनै 'दीन दयाल', रँग्यो रँग विषम विकारो।
स्याम राखिये संग अहै मन मेरो कारो॥"

'कारे' ताल-तमाल और कालिंदी पर तो कितना ही साहित्य लिखा जा चुका है। इसी 'श्याम, गौर शरीर' पर गोस्वामीजी की ग्राम-वधुएँ भी न्योछावर थी। उनके चले जाने पर भी बार-बार उनके मन में यही इच्छा होती थी कि 'चलु देखिये जाइ जहाँ सजनी!

रजनी रहिहैं...।'

यह तो कल ही की बात है कि जब दादाभाई नौरोजी सदृश महान भारतीय का इंग्लैण्ड में काले कहकर अपमान किया गया था। महात्मा गांधी सदृश महान् आत्मा, विश्व की विभूति, The Greatest man after christ का दक्षिण अफ्रिका में अपमान किया गया था। दादाभाई के इसी अपमान से मर्माहत हो श्रीयुत 'प्रेमघन' को निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट कर इसी श्यामता का गौरव ऊँचा उठाना पड़ा था। उनके उद्‌गार थे

'कारो निपट न कारो, नाम लगत भारतियन।
यद्यपि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन॥
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
अरु बहुधा कारन के हैं आधारहि कारे।
विष्णु-कृष्ण कारे, कारे सेसहु जग धारे।
कारे काम रामं जलधर जल बरसन वारे।
कारे लागत ताहि सन कारन को प्यारे। ."

इससे स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? पर सूर ने भी इस भारतीय गौरव का व्यंग रूप में प्रत्यक्षीकरण किया है। सूर की यही विशेषता भी है कि उन्होंने कोई वर्णनीय स्थल नहीं छोड़ा है। अन्य कवियों ने भी श्यामता पर लिखा है पर सूर की शैली उनकी अपनी है।

उन्होंने अपनी तूलिका इस प्रकार के चित्रों के रँगने में चलाई तो है, पर वे इस 'कालेपन' में दूसरे रूप से सुन्दर देखते हैं, वैसे तो सूर कृष्ण के भक्त हैं ही पर जब वे गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति उद्‌गार प्रकट करवाते हैं तब विदित होता है कि सूर को अपने कृष्ण पर सखा कृष्ण पर कितना प्रगाढ़ अधिकार है। बिना अलौकिक अनन्य भक्ति के

इतना मर्मस्पर्शी व्यंग सूर के अतिरिक्त और कौन कह सकता है।

सूर केवल 'कारे' पर ही व्यंग नहीं कसते, वे तो 'कारे की जाति' ही को अपने व्यंग का निशाना बनाते हैं। और उसकी तुलना में प्रत्येक काली वस्तु के गुणों को सदोष सिद्ध करते हैं। व्रजबालाओं और उद्धव के मिस वे कहते हैं

"मधुकर, कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन कमल पै अलि की,
त्यों नहिं इनकी प्रीति।
कोकिल कुटिल वायस छलि,
फिर नहिं वहि जाति।
तैसे कान्ह केलि रस अँचयो,
बैठि एक ही पांति ॥
.... ।"

इसी 'कारे की जाति' के अन्य प्राणियों की करतूतें भी देखने योग्य हैं। भौंरा भी तो उसी कृष्ण की जाति का है। वह भी यदि छलिया और धोखेबाज है तो कृष्ण क्यों न होंगे ? जातिगत स्वभाव दूर कैसे हो सकता है ? भुजंग भी काला है। वह भी अपना जातिगत स्वभाव नहीं छोड़ता। भौंरा छलिया तो भुजंग 'डसिया'। षटपद पर सूर की कल्पना विचित्र है। वह रात्रि को उसके कमल में बन्द होने का कारण रति मानते और प्रातःकाल भाग जाने का कारण उसकी विभिन्न रसों में रुचि। इसीलिए तो व्रज की ग्राम्यबालाओं को विरहाग्नि में तपने के लिये छोड़ 'कारे की जाति' वाले 'श्याम' मथुरा चले गये थे और उनकी स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर होते हुए भी बार-बार भुजंग बनकर डस जाती थीं। यदि कृष्ण काले न होते तो शायद स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर ही बनी रहतीं। पर जातिगत स्वभाव कैसे

विलग किया जा सकता था ? इसीलिये तो इन्ही 'कारो की रीति' या करतूती पर सूर चुटकी लेते हैं--

"मधुकर ! यह कारे की रीति ।
मन दै हरत परायो सर्वस,
करै कपट की प्रीति ।
ज्यो षटपद अंबुज के दल में,
बसत निसा रति मानि ।
दिनकर उये अनत उडि बैठे,
फिर न करत पहिचानि ।
भवन भुजग पिटारे पाल्यो,
ज्यो जननी जनि तात ।
कुल करतूत जाति नहिं कबहुँ,
सहज सो डसि भजि जात ।।"

और फिर तन ही तो काला नही है, मन भी तो काला है । मन ही यदि श्वेत सुन्दर, कपट-रहित होता तो भी 'काले' की कुछ परतीति होती । पर वह तो उस 'कुम्भ' के सदृश है, जो 'विष-पूरन' है पर प्रगट मे 'पयमुख' है । इसीलिये सूर साफ शब्दो मे कह देते हैं कि उसके 'मनोहर-वेष' पर ब्रज की भोली-भाली गोपियाँ लुभानेवाली नही हैं । सूर के शब्दो मे सुनिये

"मधुकर ये सुनु तन मन कारे ।
कहूँ न सत सिद्धताई,
तन परसे हैं अंग कारे ।
कीन्हो कुभ कपट विष पूरन,
पय-मुख प्रकट उघारे ।
बाहिर वेष मनोहर दरसत,

अन्तरगत जु ठगारे ॥"

पर 'काले' की इस करतूति का कारण क्या है ? केवल जातिगत स्वभाव ! नहीं वह भी शायद क्षेत्र-परिवर्तन से बदल जाय, पर जब 'क्षेत्र' ही 'काली' करतूत वाला है, तब क्या किया जाय ? फिर तो उस पर गहरा रंग चढ़ना ही चाहिये। विरह-विधुरा बालाएँ उद्धव महाराज से कह देती हैं कि 'हम मान लेती हैं कि शायद तुम हृदय मे काले न होओ क्योंकि तुम हमें ज्ञानोपदेश दे रहो हो। शायद सद्भावना से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहे होओ; पर तुम्हारा विश्वास इसीलिए नहीं किया जा सकता कि तुम 'श्याम-सखा' भी तो हो और रहते भी तो उसी 'काली कालिन्दी' पर हो। सूर की अनोखी सूझ है। योग अच्छा मिलाया है। 'कालिन्दी-तट पर' बसने की कल्पना सूर की अपनी ही है। सुन्दर है।

इसीलिए वे उद्धव से कहते हैं कि 'कारे की जाति' वाले केवल अपने सुख के सगे होते हैं और उसी समय तक साथ देते हैं। वे कहते हैं

"मधुप ! तुम देखियत हो कारे।
कालिंदी तट पर निवसत हौ,
सुनियत स्याम-सखा रे।
मधुकर, चिहुर, भुजग, कोकिला,
अवधि नही दिन टारे।
वे अपने सुख ही के राजा,
तजियत यह अनुहारे ॥"

अच्छा माना कालिंदी तट पर निवास करने से ही उसके निवासियों की यह दशा हुई। पर कालिन्दी 'काली' क्यों हुई ? प्रश्न यह है। कालिन्दी के काले होने कारण भी सूर क्या ही मार्मिक देते हैं।

जिसका हृदय जिन वृत्तियो से रगा होता है ससार भी उसे उसी रूप नजर आता है । एक सुखी को दुनिया सुखी और दुःखी को दु'खी ही दिखाई देती है । एक वियोगी भी 'जड-सगम' में कुछ भेद न कर उसे वियोगमय ही जानता है । 'बिरह-विधुरा' ब्रज ललनाएँ भी कालन्दी के काले होने का यही कारण वताती हैं । कालिदी भी स्त्री है, इसलिए व्रजागनाएँ उसकी मार्मिक व्यथा को यदि समझ सकें तो स्वाभाविक ही है । इसमें सूर ने स्त्री भावना के प्रेम का उत्कृष्ट रूप चित्रित कर दिया । परोक्ष रूप से वे भोली बधुएँ इन सब बातों का अपराध जैसे अपने ऊपर ही ले रही हैं, तभी तो उन्हे कालिन्दी के काले होने का यही कारण प्रतिभासित हो रहा है । वे कहती हैं

"देखियत कालिदी अति कारी ।
कहियो पथिक ! जाय हरि सो ज्यो,
भई विरह जुर जारी ।
मनो पालिका पै परी धरनि धँसी,
तरंग तलफ तनु भारी ।
तट वारू उपचार चूर मनो,
स्वेद प्रवाह पनारी ।
विगलित कच कुस कास पुलिन मनो,
पकज कज्जल सारी ।
भ्रमर मनोमति भ्रमत चहूं दिशि,
फिरति है अग दुखारी ।
निसि दिन चकई-व्याज बकन मुख,
किन मानहुँ अनुहारी ।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति,
सो गति भई हमारी ।।"

उत्प्रेक्षा और रूपक से पुष्ट 'जमुना-गति' के रूप में वियोग- जन्य-रूपन्नोत भाव की कितनी मंजुल व्यंजना सूर कर सके हैं, यह अवर्णनीय है।

ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है एवं भक्ति का हृदय से। मस्तिष्क विचार, विवेक, मनन एवं तर्क का निवास स्थान है तथा हृदय सहृदयता, भावुकता, पर-दुःख - कातरता आदि कोमल वृत्तियों का। ज्ञान इहलौकिक है, प्राप्य पदार्थ है। भक्ति पारलौकिक है, भगवद्-कृपा से ही प्राप्य है। ज्ञान में ओज और तेज है। कदाचित इसीलिए वह पुल्लिग है। भक्ति में शांति है, तन्मयता है, परमात्मा में एकीकरण की भावना एवं अनन्यता है। इसीलिए कदाचित् भक्ति-शब्द स्त्रीलिंग है। उसमें पुरुषत्व का विकास है तो इसमें स्त्रीत्व की कोमलता। ज्ञान विजय चाहता है, भक्ति पराजय। ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड को वश में करना चाहता है, भक्ति अपने अणु अणु को उसमें व्याप्त देखना चाहती है। ज्ञान परिश्रम-साध्य है; किन्तु भक्ति के लिए हृदय चाहिये, भगवत-कृपा चाहिये।

भक्ति तथा भक्त-महाकवि सूर

ज्ञान से आप मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सकते हैं, पर भक्ति से हृदय पर। ज्ञान का प्रभाव कठिनता से स्थायित्व प्राप्त कर सकता है, किन्तु भक्ति का सरलता से। ज्ञान म अभिमान के लिए पर्याप्त स्थान है, किन्तु भक्ति अभिमान को—अहंकार को दूर से ही प्रणाम करती है। ज्ञान भक्ति के बिना निरर्थक है, किन्तु भक्ति के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य नहीं। ज्ञान एक प्रबल नद है, जो अपने पूर में तटस्थ ग्राम, वृक्षादि को बहा लेता है, किन्तु भक्ति एक निर्मल निर्झरिणी है, जो

लोकापवाद की विकट चट्टानों को पार कर भी अपने प्रियतम से मिलने के लिए एकरस बहती चली जाती है और यदि नहीं मिल पाई तो शुष्क होकर —अपनापन ही, अहंकार ही- खोकर दूसरे रूप से अपने प्रियतम से मिल ही जाती है।

भक्ति ही ईश्वर-प्राप्ति, जो मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, का सुलभ साधन है। बिना भक्ति के भगवान का दर्शन होना दुर्लभ है। भक्ति ही से हृदय में भगवान के दर्शन होते और एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। भक्ति में आत्मा अपने 'अहं' को भुला देती है और तभी परमात्मा का प्रकाश उसमें स्थान कर लेता है, जैसे कि रिक्त स्थान में वायु स्वयं ही प्रवेश कर जाती है। भगवान् कृष्ण गीता में एक स्थान पर इसीलिये कहते हैं, जो मुझ पर आसक्त हैं और प्रेम-सहित मेरी उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि को मैं इस प्रकार चलाता हूँ कि वे मुझे पा सकें। भक्ति में आत्मानुभाव की आवश्यकता है। मनुष्य के लिए नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन का कथन किया गया है। इनमें यद्यपि पाखंड को प्रश्रय बहुधा मिल जाया करता है, किन्तु ध्यान-पूर्वक विचारने पर ये भक्ति की चरमावस्था पर पहुँचाने के लिए नौ सोपान प्रतीत होते हैं, जिन पर चढ़कर ही भक्त सच्ची भक्ति, पराभक्ति तक पहुँच सकता है। बिना भगवान् के गुणों को सुने मस्तिष्क में भाव उठ ही नहीं सकते, हृदय मथा ही नहीं जा सकता। बिना उसका गान किये हम उसकी ओर झुक ही नहीं सकते, हममें तन्मयता आ ही नहीं सकती। भगवान का जब तक हम हृदय से बार-बार मनन न करें, उसका स्मरण न करें, तब तक हममें उस निष्कलंक के प्रति स्थायी अनुराग होना कठिन है। अनुराग प्रकट होने पर जिस

प्रकार हो सके, उस प्रकार उसकी सेवा, अर्चना, वंदना चाहे दास्य-भाव से हो, चाहे सख्य-भाव से अथवा आत्म निवेदन के रूप में, किन्तु कपट त्यागकर, निरीह और ससार से अनासक्त हो उस परम आत्मा की खोज मे लगना ही सच्ची भक्ति है।

यह तो स्वाभाविक ही है कि जब हम किसी से प्रेम करने लगते हैं, उसे अपने हृदयासन पर अधिष्ठित कर देते हैं, तब उसकी सब वस्तुएँ हमें प्यारी लगने लगती हैं। उसका छोटे से छोटा स्मरण-चिन्ह भी हमें आह्लाद-कारक प्रतीत होता है। इसी प्रकार परमात्मा से भी प्रेम होने पर उसकी समस्त रचना से हमारा प्रेम हो जाता है। हमारा हृदय घृणा से रहित हो सम-भावी बन जाता है। भक्ति बिना विषय-वासनाओं को छोड़े प्राप्त नही हो सकती, अपने भुलाये बिना उसमे तन्मयता नही आ सकती। इसीलिए भक्ति-पथ त्यागमय है। त्याग ही भक्ति एव धर्म का मूल है और इसी में प्राणियो का, मानव का हित, सुख सन्निहित है। इस भक्ति को प्राप्त करने के साधन भी रामानुजाचार्यजी ने विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष बताये हैं। सदसद् के विचार को विवेक कहते हैं। रामानुजाचार्यजी तो खाद्याखाद्य के विचार को ही विवेक मानते हैं। विमोक का अर्थ है इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द को तिलाजली दे सयम एव सरलता पूर्वक जीवन व्यतीत करना। विमोक की प्राप्ति शनैः-शनैः सत्य, दया, दान आदि के नियम लेने एव अभ्यास द्वारा ही हो सकती है। लगातार परिश्रम करते जाने को अभ्यास कहते हैं। क्रिया से उनका तात्पर्य कदाचित कर्तव्य से है या मनुष्य की दैनिक धार्मिक क्रियाओं से। कल्याण का अर्थ भलाई या परोपकार एव पवित्रता से भी है। अतएव भक्ति भी परोपकार वृत्ति को लिये हुए है। अनवसाद का अर्थ शक्ति-बल से है। बिना शक्ति या बल के कोई कार्य नही चल सकता।

किन्तु शक्ति शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की होनी चाहिये। बलहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है (Weakness is sin, Disease is death)। वास्तव में निर्बलता एक पाप ही नहीं, महाभिशाप है। निर्बल हाथों से भक्ति कर सकना संभव नहीं। जैसा कहा भी है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:"। इस प्रकार नवधा भक्ति के उक्त पदों का जब हम विश्लेषण करते हैं, तब हमें उनमें क्रमिक विकास ही नहीं मिलता, वरन उनमें उच्च कोटि की वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता दिखाई देती है। शास्त्रों में भक्ति-प्राप्ति के अन्य अनेक साधन एवं मार्ग बताये गये हैं, किन्तु इन साधनों एवं मार्गों की अपेक्षा उपयुक्त हृदय की, सहृदयता की अधिक आवश्यकता है। भक्ति के लिए लगन की, एकाग्र चित्त की तथा एकरस अनन्य प्रेम की अधिक आवश्यकता है। ऐसी ही निर्मल भक्ति से प्रवाहित होनेवाला स्रोत विश्व-कल्याणकारी होता है। नानक, कबीर, तुलसी आदि ऐसे ही भक्त थे, अभ्यासी थे, और इसी लिए वे संसार का उपकार कर सके।

भक्ति-भाव अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है। कभी तो भक्त परब्रह्म को अपना गुरु समझ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है, कभी स्वामी मानकर। कभी वह उसे सखा समझता है, कभी अपना मित्र। वास्तव में परब्रह्म है भी आत्मा का गुरु, स्वामी, माता, पिता मित्र और सब कुछ। वह क्या नहीं है? जिस भक्त के हृदय में जिस प्रकार से हिलोर उठे और जैसा उसका दृष्टिकोण हो, उसी प्रकार वह परमात्मा को देखता है। भक्ति किसी भी प्रकार से की जाय, परमात्मा से कोई भी एक सम्बन्ध स्थापित किया जाय, किन्तु सब प्रकारों के सम्बन्धों के लिए अनन्यता ही अत्यन्त आवश्यक है। जब भक्त परमात्मा को अपना पति समझता है और स्वयं को स्त्री तब उसके हृदय से ऐसे ही प्रेम के भाव उद्भवित होते हैं; जिससे इस सम्बन्ध की ही पुष्टि हो। इस

सम्बंध में वह परमात्मा का आंतरिक संयोग पा सुखी होता, उससे मान मनौअल करता और कराता है। उसके न मिलने पर दुःखी होता है और विरहिणी नायिका के समान उसके वियोग में उसे यह संसार भारी हो जाता है। आत्मा में उसके दर्शन से पति-दर्शन के समान सुख होता है।

जब वह स्वामी-सेवक के भाव से अपने उद्‌गार प्रकट करता है, तब वह अपने स्वामी को सर्वोच्च और स्वयं को अति तुच्छ समझता है। इस सम्बन्ध में वह परमात्मा की जितनी सेवा कर सके, उतनी सेवा करने की आकांक्षा रखता है। परमात्मा में उसे गुण ही गुण और स्वयं में दोष ही दोष दिखाई देते हैं। उसकी आज्ञा पालन करना ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है। उस समय वह स्वयं 'गुडी' और परमात्मा को 'गुडायक' समझ अपने को उसी के हाथों में समर्पण कर देता है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के द्वारा वह गुरु ही में परमात्मा का आरोप कर उसकी पूजा-अर्चना करता है।

वात्सल्य-भाव-भक्ति में हम प्रेम का पूर्ण विकसित रूप देखते हैं एवं सख्य-भावों में हृदयोद्‌गारों की निर्मलता तथा निष्कपटता। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भंग हो सकता है। गुरु शिष्य को अवज्ञाकारी देख उससे घृणा करता है, उसे पृथक कर सकता है। उसमें बुद्धि का अभाव देख उसे ज्ञान-दान देने में संकोच कर सकता है। शिष्य भी गुरु को त्याग अन्य को अपना सकता है। यही बात स्वामी सेवक में भी हो सकती है। स्वामी सेवक को तिलांजलि दे सकता है और सेवक स्वामी को।

पति-पत्नि-भाव में शृंगार-भाव पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और यह सम्बन्ध भी जीवन-पर्यंत निबाहा जा सकता है। इसमें निर्मलता एवं कोमलता भी प्रचुर मात्रा में व्याप्त है, किन्तु यह भी वात्सल्य-भाव की समता करने में असमर्थ है। सब कोई अन्य हो सकते हैं, किन्तु माता

कुमाता नही हो सकती। इसी प्रकार यह सम्बन्ध भी अटूट रहता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के सम्बधों में यह सब ध सर्वश्रेष्ठ ही नही, चिरकालीन भी है। पवित्र भावनाओ को समुचित रूप से व्यक्त करने की निर्मल धारा भी यही है। शिशु ही में हम परमहसत्व के समस्त गुणो का प्रादुर्भाव पाते हैं। उसमें ही समस्त परमात्मा के समस्त गुणो का प्रादुर्भाव पाते है। उसमें ही परमात्मा के समस्त गुणो का आरोपण एव निरूपण किया जा सकता है। शिशु, वत्स आदि मृदु शब्दो में कितना सौकर्य, कितनी अनुभूति, कितनी भाव-व्यञ्जना भरी हुई है! बालक ही सृष्टिकर्ता की सर्वोत्तम अतुलनीय कृति है। अतएव सर्वोत्कृष्ट भाव-व्यञ्जना इसी वात्सल्य-भाव की भक्ति द्वारा सभव है।

अब यदि हम सख्य-भाव पर विचार करें, तो यह भी वात्सल्य-भाव का ही द्वितीय रूप है। एक मित्र अपने मित्र से अपने गूढ से गूढ़ हृदयोद्गारो को निश्शकित हो प्रकट कर सकता है। जिन भावो को वह माता, पिता, गुरु, स्वामी से छिपाता है या उसे छिपाना आवश्यक होता है, उन भावो को, उन उद्गारो को वह अपने मित्र के समक्ष मुक्त हृदय से रख देता है। मित्र भाव की मजुल व्यञ्जना भी बाल्य-काल मे ही देखी जाती है और इस अल्हड, निष्कपट काल के अति-रिक्त इस भाव का केवल नाम-शेष व रूढि ही रह जाती है। अतएव सख्य भाव ही वात्सल्यभाव का सच्चा सखा है। इसके अति-रिक्त अन्य कोई भी नहीं हो सकता।

एक मित्र अपने मित्र के साथ खेलता, कूदता, लडता, झगडता मिट्टी उछालता, मारता, पीटता, मिलता, जुलता और परस्पर सहा-यता करता है। इसी प्रकार अन्य समासम भाव मित्र में, सखा में, पाये जाते हैं। फिरभी इसकी निर्मलता में, पवित्रता मे कोई बाधा

नहीं आती। यही इसकी विशेषता एवं विचित्रता है। इसी सख्य-भाव का भक्त अपने इष्ट-देव के साथ भाव और भावनाओं में खेलता-कूदता लडता-झगडता, डाटता-डपटता तथा प्रेम और सहायता करता है। कहने का आशय यह है कि भावो की मजुल व्यञ्जना केवल वात्सल्य एव सख्य-भावो के द्वारा ही हो सकती है। इसी प्रकार की भक्ति के भावो के उद्रेक द्वारा ही सूर की रचनाओ में अन्य भक्त महाकवियों से उत्कृष्टता आ सकी है और जो भावो का स्फुरण सूर द्वारा हो सका है, वह किसी से नही हो सका। इसी व्यञ्जना ने किसी भावुक को अततः यह कहने के लिये वाध्य कर ही दिया कि 'सूर सूर तुलसी शशि।'

इसमे सदेह नहीं कि भक्ति महारानी श्रद्धासन पर विराजमान रहती हैं, किन्तु उनके दो प्रमुख सहचर और भी हैं, जिनसे ही वे 'वे' हैं, जिनसे ही उनकी शोभा और गौरव है। वे सहचर विनय और दैन्य प्रदर्शन हैं, जिनकी शक्ति पर उन्हे पूर्ण विश्वास है, जिनके कारण ही सिहासनासीन हैं और निर्भय होकर रह सकती है।

विनय ही वास्तव में एक भक्त के लिये आदर्श भक्ति है। दीनता-प्रकाशन ही उसकी पूजा-अर्चना की सामग्री का थाल है। उस दीन के पास मान-अपमान के अतिरिक्त त्याग करने की और वस्तु ही क्या है? अपने इष्टदेव के समक्ष अपने सम्बन्ध की तुच्छ भावना ही उस दीन का, निर्धन का धन है। विनय ही मन के मैल के निष्कासन के लिए सन-लाइट-सोप है। विनय से ही, विनीत भाव से ही, नम्रीभूत होकर ही भक्त भगवान पर विजय प्राप्त कर सकता है। उस परब्रह्म पर भी विजय प्राप्त करने का यही एकमात्र शस्त्र, उपाय है, जिसमे वह आदि-शक्ति, ससार चक्र-चालक सर्वशक्तिमान् भी क्षण भर में वशीभूत हो जाता है।

विनय ही पापो के प्रक्षालन के लिए अलौकिक दिव्य पदार्थ है। विनय

ही पश्चात्ताप की पंचाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए पावन पंखा है, जिसके पवन से बड़े-बड़े पाप पुञ्जों के पर्दे भी छिन्न विच्छिन्न हो जाते हैं। इसी विनय में निमग्न हो अनाक्षी सूर दिव्य-चक्षु प्राप्त कर उस रस-धारा को प्रवाहित करता है, जिसके मधुर सुस्वादु अमृत-जल का पान कर हृदय कभी तृप्त नहीं होता। इसी के वश हो कहीं वह 'पंगु' से गिरियों का उल्लंघन करवाता है; कहीं वह 'अँधरे' से सब कुछ दिखवा लेता है; कहीं वह रंक के सिर पर छत्र तनवाता है; कहीं भगवान से अपनी ढिठाई क्षमा करवा लेता है। कभी वह 'माया-नटनी' के प्रपंच से अपने को निकलवाने की चेष्टा करता है। कभी वह अपने 'काम-क्रोध' के 'चोलना' को नष्ट करने की प्रार्थना करता है। वास्तव में विनय ही भक्ति का सच्चा सहचर है। विनय बिना भक्ति कैसी और भक्ति बिना विनय की सुन्दरता कैसी ? दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

विनय के सम्बन्ध में विरोधाभास एवं विभावना का यह उत्कृष्ट तथा बहुविश्रुत उदाहरण द्रष्टव्य है। इसमें भगवान की महिमा की पराकाष्टा कर दी है। यदि भगवान में इन गुणों का आरोप नहीं किया जाय, तो इस संसार-सागर से, जिसे मानव अल्प शक्ति से ही तैरना चाहता है, कैसे तैरकर पार पहुँच सकता है ? विराट विश्व में वह एक तृण के समान ही तो है। उसी सदृश वह इधर-उधर उतराता तो है ही। शक्तिहीन मानव पंगु, अंध, बधिर रंक तो है ही। वह सोचता कुछ है, पर नियति कुछ और ही कर देती है। बड़े-बड़े धर्मशास्त्र और महात्मा भी उसकी अंध आत्मा को दिव्य चक्षु—ऐसे दिव्य चक्षु, जो आत्मा सदृश हो, अनाशवान हो, अमर हो चिरकाल तक न दे सके। बीसवीं शताब्दी के विद्वानों से युक्त मानव भी तो आज रो रहा है। उसकी आत्मा व्याकुल है, अवहेलित है। इसी अहंकारी युग में तो

मानव 'शव' का श्रृंगार और मानव आत्मा का 'कुत्सित चित्राकण' किया जा रहा है। ऐसी भीषण परिस्थिति मे उसका स्वामी करुणामय न हो, 'पगु से गिरि न लँघवा सके, 'अँधरे' से सब दिखवा न सके, 'मूक' से बुलवा न सके और 'रक' के सिर छत्र न तनवा सके, तो निरीह, असहाय मानव किसकी शरण में जाय ? इसीलिए तो सूर ऐसे स्वामी के चरणो की वन्दना करते हैं

"जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अधे को सब कछु दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रक चलै सिर छत्र धराई।"

एक धर्म-प्राण भारत भी तो आज ऐसे ही परमात्मा की सेवा में लग्न होने की चेष्टा करना चाहता है। उसके रोम-रोम में नस-नस में यही भावना तो काम कर रही है। (मानस में तुलसी भी तो इसी भारत का प्रतिनिधित्व करते नजर आते हैं "मूक होइ वाचालु, पगु चढइ गिरिवर गहन।")

ऐसा बडा है सूर का वह जगन्नियता। वह स्वामी। भला बताइये जिसका साहूकार ही राम-सा धनी हो, उसे किस बात की कमी होगी ? ऐसे धनी 'साहूकार' को पा किसे आनन्द न होगा। इन्द्र कुबेर जिसके दास हों, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सदृश चारो पदार्थों का देना जिसके बाये हाथ का खेल हो, वह भला क्या नही दे सकता ? उसके लिए सब सुलभ है। वह अपने भक्त की सुध क्यो नही लेगा।

मुझे थोडी-सी माया, सो भी उसी की कृपा से, मिल गई है, उसी पर इतराता फिरता हूँ। उस थोडी माया का न मै कोई सदुपयोग करता हूँ, और न छोड़ ही सकता हूँ, जैसे भुजग के सिर की बहुमूल्य मणि जिसका वह कृपण न तो स्वय ही कोई उपयोग करता हैं और न किसी को देता ही है। ऐसा ही तो अपने 'राम-धनी' के मै समक्ष हूँ

"कहा कमी जाके राम धनी ।
मनसानाथ मनोरथ पूरण,
सुख-निधान जाको मौज घनी ।।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष,
फल चार पदारथ देत धनी ।
इन्द्र समान जाके सेवक हैं,
मो बपुरे की कहा छनी ।।
कहा कृपण की माया कितनी,
करत फिरत अपनी - अपनी ।
खाइ न सकै खरच नहिं जानै,
ज्यों भुजग सिर रहत मनी ।।"

ससार में यह मायारूपी नटनी ही तो इस जीवात्मा को बन्दर की नाईं नाच नचाया करती है। नटनी जब बन्दर से कहती है, 'बेटा सलाम करो' तब बन्दर मियाँ भी हाथ उठाकर सलाम करते हैं। जब वह पेट दिखाने को कहती है, तो तुच्छ से तुच्छ के सामने भी उसे पेट दिखाने का स्वाँग करना ही पड़ता है इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से। माया नटनी भी तो यही स्वाँग जीवात्मा से करवाया करती है। नटनी बेचारी तो कुछ निर्दिष्ट स्वाँग ही भरवा पेट पाल लेती है, किन्तु उस माया नटनी का पेट बड़ा लम्बा-चौड़ा है। उसको नचवाने के लिए तो एक नही, दो नही, चौरासी लक्ष योनियों का द्वार खुला हुआ है। इन योनियों में ही भ्रमण करवा लेने से उसे संतोष हो जाता हो, सो बात नही। प्रत्येक चक्कर के साथ उसने काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि के आवर्त भी रख दिये हैं, जिसके आधीन हो वह न्यायान्याय का ध्यान छोड़ मनमानी करने लगता है। काम उसे सद्वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं करने देता। क्रोध उससे ऐसा विष

वमन करवाता रहता है, जिसके कारण वह स्वयं गलता रहता है। लोभ का चश्मा चढाकर वह तुच्छ से तुच्छ को 'महादानी' समझने लगता है। माया अनेक मनोरथों पर उसे चढा सदा असंतुष्ट और बेचैन रखती है। इस जादूगरनी से बचने का केवल एक उपाय है और वह है भगवत्कृपा। सूर उसी की तो याचना करते हैं

"..

माया नटनी लकुट कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै।

....

तुम सो कपट करावत प्रभु जू मेरी बुद्धि भ्रमावै॥
मन अभिलाष तरंगनि कर-कर मिथ्या निशा जगावै।
सोवत सपने में जो सम्पत्ति त्यों दिखाय बौरावै॥

....

ज्यों दूती पर बधू मोहिकै लै पर-पुरुष दिखवै॥

....

सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै"

बड़ा विकट है माया का फंदा। सूर बार बार उससे छूटना चाहते हैं और वह फिर-फिर उन्हें फँसा लेती है। सूर कहते हैं, "हे प्रभु, साधु संगति की ओर मेरी रुचि कभी जाती नहीं। दैववशात् या आपके अनुग्रह से यदि गई भी, तो माया जल्द ही अपना फंदा समेटना आरम्भ कर देती है और मैं उल्टा खिंचा चला आता हूँ। अपने मन को मैंने बहुत समझाया, बहुत यत्न किया, किन्तु यह आपसे मुझे विलग ही रखती है। आपके दयारूपी जल से कई बार स्नान कर चुका, किन्तु अन्त में गज-समान सिर पर धूल ही उड़ाई।"

पर इस माया का सबसे बड़ा प्रभाव पड़ता है मन पर। वही अपने साम्राज्य में यत्र-तत्र भागा करता है। शरीरांगो से जैसा चाहता है, काम

लेता है। मन की गति ठीक श्वान-जैसी हो ठहरी न। सूर इस श्वान-मन से बडे परेशान रहते हैं। उसे बहुत समझाते हैं, किन्तु वह अपना जातीय स्वभाव नही छोडता। 'मतिहीन' ही जो ठहरा

"मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सुखनिधि ये पदकमल छाडि, श्रम करत श्वान की नाईं॥"

मन के ऐसे झकोरो के मध्य केवल एक भगवान ही अवलब है, सत्य है। किन्तु सूर कहते है उससे परिचय कैसे हो? उसकी 'अविगत गति' मेरी बुद्धि से परे है। उसके अनुग्रह का सागर बडा गहन है। उसके दया के किनारो का पार ही नही मिलता, उसके कार्य दृष्टिगम्य नहीं। मैने सुना है, वह अद्भुत अलौकिक कार्य किया करता है। उसकी लीला की तो यह बात है कि, "बिन आशा बिन उद्यम कीने अजगर उदर भरे।" और दूसरी ओर, "अति प्रचण्ड पौरुष बल पाये केहरि भूख मरै।" ऐसे अनोखे के निकट मै तुच्छ कैसे पहुँच सकता हूँ। फिर यही बात हो सो नही। वह तो, "रीतै भरै-भरै पुनि ढोरै, चाहे फेरि भरै।" उसकी महिमा तो यह है कि, गागर तै सागर करि राखै चहुँदिशि नीर भरै।" और उसी के प्रभाव से, "पाहन बीच कमल बिकसाही, जल में अगिनि जरै।" ऐसा अद्भुत और अलौकिक है सूर का वह 'प्रभु'। इसी लिए सूर कभी-कभी दुविधा में पड जाते हैं, किन्तु उनको उस 'प्रभु' की इस 'बानी' का पूरा भरोसा है कि, "पतित तरि जाइ तनक में जो प्रभु नेकु ढरै।" इसी बल-विश्वास पर तो सूर उस अगम्य और अलौकिक के पास तक पहुँचने का साहस करते है।

किन्तु सूर, वह नेत्रहीन सूर जब उसके निकट पहुँच गया, उसने उसके दर्शन अन्तश्चक्षुओ से एकबार कर लिये, फिर क्या वह वहाँ से हटनेवाला है? अब चाहे मारो, चाहे तारो, वह तो उनके द्वार पर आ ही पड़ा है और याचना करता है

"अपनी भक्ति देहु भगवान।

कोटि लालच जो दिखावहु नाहिन रुचि आन ॥"

सूर जैसे वालक हो और कोई उन्हे भुलावा दे रहा हो। सूर कहते है, अब मैं वालक नहीं रहा कि अन्य देवी-देवताओ के भुलावे में आऊँ। आपका स्मरण करते-करते अव मुझमें भी कुछ समझ आ गई है। मै कुछ बडा हो गया हूँ। इसलिये

"नाहिनें काचौं कृपानिधि कहौ कहा रिसाइ।
सूर तबहुँ न द्वार छाडै डारिहौ कढराइ ॥"

फिर एक बात का जो विश्वास मुझ वालक में है और जो प्रत्येक में अपने माता-पिता के प्रति रहता है कि आप वाह्य रूप से कितने ही कठोर क्यो न प्रतीत होते होओ, पर आपका अन्तर तो बडा मुलायम है (प्रत्येक बालक चाहे कहे नही, पर परोक्ष रूप से उसके हृदय में इसका विश्वास तो रहता ही है)। तभी तो तुम्हारा हृदय शीघ्र ही पसीज जाता है और तुम 'साँकरे के साथी' वन जाते हो। तुमने ही तो—

"सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुडायो हाथी।"

इस 'दृढ प्रतीति के पहले सूर को कई साधु-सन्तो ने समझाया था कि निर्गुण परमात्मा की भक्ति कर। वे उसके पीछे कुछ सीमा तक गये भी। जितना हो सका, उन्होने उसे प्राप्त करनेके लिए किया, किन्तु दर्शन नही मिले। वह उनकी आत्मा में घुला-मिला ही नही। इसी लिए सूर सगुण उपासना की ओर अग्रसर हुए जैसा वे कहते हैं

"आपुने जान मै वहुत करी।
"कौन भगति हरि कृपा तुम्हारी सो स्वामी समुझी न परी ॥
दूरि गयो दर्शन के ताईं व्यापक प्रभुता सर्व विसरी।
मनसा वाचा कर्म अगोचर सो मूरत नहि नैन धरी ॥"

किन्तु प्रश्न यह है कि सगुण परमात्मा से मिलने की सूर को इतनी उत्कट अभिलाषा, इतनी व्याकुलता क्यो हुई ? इसका कारण

है। मानव कितना ही आत्मिक रूप से निखरे, कितना ही निष्कलंक रहना चाहे, किन्तु इस संसार की काजल-वलित कोठरी में से, "कैसे हू सयानो जाय काजर की एक रेख, लागि है पै लागि है" (सेनापति)। यही 'एक रेख' जब आत्मा निखरने लगती है निष्पाप होने लगती है, तब उस व्यक्ति को महान् दोष-सी दिखाई देने लगती है। उस समय संसार की दृष्टि में जो एक साधारण बात रहती है, वही उसे बड़ी और बढ़ी हुई प्रतीत होती है, जैसे डॉक्टर को रोगों के कीटाणु, जिन पर साधारण जन कुछ ध्यान ही नहीं देते और उसके शिकार होते रहते हैं। इसीलिए सूर सी निष्कलुष-पथगामी आत्मा कहती है

"कौन गति करि हौ मेरी नाथ।

हौं तो कुटिल कुचील कुदरसन रहत विषय के साथ॥"

यही नही, अन्य अनेक अपराध भी मैंने किये हैं। इस जन्म के कम ही सही, किन्तु मैं तो अनन्त जन्म धारण कर चुका हूँ। इसीलिए तो सूर की या मानव की उस आत्मा में इस जीवन के पश्चात् की गति के लिए छटपटाहट हैं। छटपटाहट है अवश्य, किन्तु सूर को अपने 'प्रभु' की 'दृढ़ प्रतीति' भी तो है, "सूर पतित जब सुन्यो विरद तब धीरम मन आयो।"

इसी 'विरद' का आश्रय पा सूर उस 'अगम्य' तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। सूर अपने को एक साधारण पतित समझते हो, यह बात नहीं है।

"पतितन में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो।"

ऐसे पतित अपने को समझते थे सूर। किन्तु भगवान् के 'विरद' ने ही उन्हें इतना उत्साहित कर दिया कि वे उनके मुँह लगे मित्र हो गये हो जैसे। सूर-सा अक्खड कवि जब भगवान के मित्रासन पर बैठ जाता है, तब तो उसके विशाल अत्युच्च हृदय-गिरि से जो भावस्रोत प्रवाहित

होता है, वह अप्रतिम है, अनिर्वचनीय है। सखा बनाकर ही तो वे मम बीन् के निर्मल हृदय का अपने हृदय से सामञ्जस्य कर सके हैं। वह निर्झरिणी बहा सके हैं, जो भाव-विभोर किये बिना नही रहती।

सूर कहते हैं, अनेक पतितो को तारकर यदि आपको गर्व हो गया हो, तो आप उस अभिमान को त्याग दीजिये। यदि आप में सद्गुणों की कमी नहीं है तो मुझमें भी दुर्गुणो का पार नही है। मैं आपको सीधे नहीं छोड़नेवाला हूँ। आज तो फिर मैं प्रतिज्ञा करके आपके द्वार पर आ डटा हूँ। महाराज, अभी तक तो मैं अपनी बात पर अपनी तुच्छता पर नही आया था। इसलिए अनुनय विनय से अपनी कार्यसिद्धि करना चाहता था। मैं महापतित ही नही हूँ, खानदानी पापी हूँ। मुझ-सदृश पापी का यदि उद्धार नहीं किया तो अनेक पतितो के तारने के 'यश' पर मैं पानी फेर दूंगा। मे नीच जगह-जगह डौंडी पीटता फिरूंगा कि इन्होने 'पतितपावन', 'दीनानाथ', 'अशरण-शरण', 'जगदाधार' के बाने तो धारण कर लिये हैं, किन्तु मुझे वे भी नहीं तार सके। इसलिए सीधे-सीधे आपसे कहता हूँ कि एक बार कह दो, 'सूर मेरा है'। और यह कहलवाकर ही रहूँगा; क्योकि आज ही तो, "हौं पायो हरि हीरा।' मेरी प्रतिज्ञा है

'बाह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहि;
हिरदै से जब जाइयो, मरद बदूंगो तोहि।"

मित्र ही तो ठहरा। प्रतिज्ञा ही नही की है, मरने-मारने को, लड़ने-झगड़ने को तैयार बैठा है। स्नेहातिरेक के अतिरिक्त इसे और क्या कहें ? कितना ओज और दृढ़ प्रतिज्ञा है। सूर झुँझला उठते हैं

"आजु हौं एक-एक करि टरि हौं।
कै हमही कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं
....

अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्है विरद बिनु करिहौ ॥"

यह नगापन नहीं, हृदय का मधुर भार है, हृदय की तिलमिलाहट है, हलकापन है। ऐसे उद्‌गार तो उस 'प्रभु' का अनन्य, एकरस भक्त ही प्रकट कर सकता है। दूसरे का इतना साहस नहीं हो सकता। तुलसी ने भी तो यही प्रतिज्ञा की थी "प्रन करिहौं हठि आजु मैं राम द्वार परयौ हौं। तू मेरो यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबरयो हौं।"

भक्त हृदय से और चाहता ही क्या है सिवा इसके कि उसका इष्टदेव उस पर कृपा करता रहे। यह अवश्य है कि वह अपने स्वामी पर कभी खीझता है तो कभी रीझता भी है। पर अपना सर्वस्व तो वह 'कृष्णार्पणमस्तु' ही कर देता है। 'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। इसीलिए सूर भी रीझ-खीझकर अन्त में कह ही उठते हैं

"जैसे राखहु तैसेहि रहौं।
जानत दुख-सुख सब जन के तुम मुख करि कहा कहौं ॥"
और भी
"तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यो पानी बिन प्रान ॥"
"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उडि जहाज को पछी फिर जहाज पर आवै ॥"

यहाँ एक बात विचारणीय है। यदि भक्त ही भक्त विनय करता जाय और सर्वेश्वर यदि उसकी विनय पर ध्यान न देवे, तो इस विराट् विश्व में मानव की संसारी आत्मा की क्या गति हो? वह शीघ्र ही थककर निश्चेष्ट हो जाय। एवं शायर ने कहा है "अगर हम ही हम तड़पे तो क्या तड़पे। तुम भी तड़पो तो मजा उट्ठे मुहब्बत का।" इसलिए भक्त कवि भगवान के उस रूप का भी कथन करते आये हैं,

जहाँ वह 'अपने जन' को मानव को--प्रोत्साहित करते हैं, भक्त वत्सलता प्रकट करते हैं। गीता की रचना ही इसी महोद्देश्य को लेकर हुई है। वह किसी-न-किसी रूप से मानवात्मा को निश्चेष्ट, निष्क्रीय होने से बचाते हैं। सूर भक्ति के इस अंग को भी अछूता नही छोड़ते। उनसे वह छूट ही नही सकता था; क्योंकि वे तो भक्ति की परिकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष थे। सूर के इन पदो से कौन भक्त रसिक एव प्राचीन काव्य प्रेमी अपरिचित है ?

"हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी यह ब्रत टरत न टारे।"
यही नही
'मेरी परतिग्या रहै कि जाइ।"

अन्त में अपनी भक्ति का सारा रस वे निम्नलिखित पद में बड़ी खूबी के साथ पाश्चात्य साहित्य के सामने कगाल कही जाने वाली हिन्दी को दे गये हैं, जिससे जब भी वह विश्व के कानो तक पहुँचेगी, अपना मस्तक ऊँचा उठा सकेगी। केवल अँग्रेजी भाषा के प्रवाह के कारण उसके साधारण से भी साधारण भावो को ऊँचा समझने वाले प्रशसक देखे कि कितना ज्ञेय, सारगर्भित, कितना भावपूर्ण एव मर्मस्पर्शी यह पद है। चित-चकई को सम्बोधित कर वे कहते हैं, हे चकई, उस देश को चल, जहा कभी अपने प्रिय का वियोग ही नही होता, जहा कभी रात्रि ही नही होती। जब रात्रि ही नही, तो चकवाक पति-पत्नि की पृथक्ता कैसी ? और पृथक्ता के अभाव मे वियोग कैसा ? सूर का वह पद है

"चकई री, चल चरन-सरोवर, जहा न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निशा होत नहि कबहूँ, वह सायर सुख जोग।
जहा सनक से मीन-हस शिव मुनी जन नख रवि प्रभा प्रकास।

प्रफुल्लित कमल निमिष नहिं शशि डर गूजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल सुकृत अमृत पीजै।
सो सर छाडि कुबुद्धि विहंगम यहा कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीडा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस।'

तुलसी के बाद यदि किसी महाकवि को स्थान दिया जा सकता है तो वे सूर ही हैं, वास्तव में सूर हिन्दी-साहित्य के एक जग मगाते रत्न हैं जिनका अमिट प्रभाव है। प्रारंभ से ही "सूर सूर, तुलसी ससी" वाली उक्ति उनके विषय मे प्रचलित है। सूर का सम्मान भी कम नही है और जिस दिन तुलसी और सूर अन्य भारतीय

सूर साहित्य का हिंदी में स्थान और प्रभाव

भाषा-भाषियो के समक्ष नही, ससार के समक्ष आवेंगे, तब इनका स्थान आज से कहीं उच्च होगा। इनका लोहा—एक की सर्वतोमुखी प्रतिभा का और दूसरे के कवित्व का काव्य का लोहा ससार को नत मस्तक होकर मानना पड़ेगा। सूर का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी कम नही बड़ा है। इनकी पदशैली का अनुकरण गीतावली में लक्षित होता है, मीरा में देखने को मिलता है एव अन्य तत्कालीन एव परवर्ती कवियो में भी प्राप्त होता है; किन्तु सफलता से अनुकरण एक-दो ही कर सके हैं। इनके पश्चात्, उस समय सूर और तुलसी के भावो को लेकर कई क्षुद्र कवि राजदरबारो में कविराजो की उपाधि से विभूषित होते थे। वास्तव में कबीर, सूर और तुलसी इन त्रिरत्न महात्माओ ने मिलकर हिन्दी भाषा को उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जैसा आज तक कोई न कर सका। सूर का एक विपथगामी प्रभाव और पड़ा। वह था राधाकृष्ण की भक्ति का। उनके काव्य में लोक-दृष्टि से कुछ अश्लीलता थी। वह थी साम्प्रदायिक प्रभाव के कारण। पर सूर वास्तव में

सच्चे और सहृदय कवि थे। पर परवर्ती कवियों ने उनसे अच्छाई ग्रहण न कर अश्लीलता ही ली और कृष्ण और राधा को नायक-नायिका मान कर कितने ही गन्दे काव्यों का ढेर लगा दिया। एक महात्मा के काव्य का भी कितना गहरा कुअसर पड़ता है! इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उच्च चरित्र वाले साहित्यज्ञों की रचना का भी यदि उस में रच-मात्र भी कुरुचि हो तो भी नवयुवकों और समाज पर बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता।

अन्तिम निवेदन-स्वरूप मैं यह कहना चाहता हूँ कि समालोचनात्मक ढग से सूर का जो परिचय मैंने दिया है, वह अत्यल्प है। सूर-साहित्य में अनेक रत्न पड़े हैं जिनके निकालने की आवश्यकता है। सूर साहित्य की अभी विशद व्याख्या होने की अत्यंत आवश्यकता है। और तभी हम सूर का सच्चा मूल्य आंक सकेंगे। अभी तक हम केवल ग्राह्य रूप से यह कहते आये हैं कि सूर एक उत्कृष्ट कवि हैं, नवरत्नों में उनका दूसरा नबर है। तुलसी के बाद सूर का स्थान है। सूर का गुणगान भी बहुत किया गया, पर सूर की विशेषताओं पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। सूर पर जिस समय खोज आरंभ होगी, सूरसागर जिस समय मथा जायगा सूर का ससार के महाकवियों में अत्युच्च स्थान होगा।

अन्तिम निवेदन

सूर : एक अध्ययन

हिन्दी के पत्रों की निष्पक्ष, अविकल आलोचनाएँ

यह निबन्ध, न केवल सूर की जीवनी और कविता से, किन्तु विस्तृत प्राचीन हिन्दी साहित्य से परिचित लेखक के परिश्रम का फल है। पुस्तक में, साहित्य चर्चा करते समय, सूर के समग्र होने वाली पहुँच के दर्शन उतने नहीं होते, जितनी चर्चा कि साहित्य और संगीत की की गई है। जहा सूर के पदो मे लेखक की सम्वेदनशीला कलम पहुँची है वहा अवश्य वह आनन्ददायनी हो गई है। हम इस उद्योग की, और नरेन्द्र साहित्य कुटीर के आयोजन की सफलता चाहते हैं।

'कर्मवीर' खण्डवा।

महात्मा सूरदास हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकवि हुए है। आपका सूरसागर ग्रन्थ अपने ढग का अनूठा है। आपने कृष्णचन्द्रजी का सर्वांग सुन्दर वर्णन किया है। इन महाकवि की समालोचना में मिश्र बन्धु का 'हिन्दी नवरत्न', ला भगवानदीनजी का 'सूरपचरत्न', प० रामचन्द्रजी का 'भ्रमरगीत' और प० हजारीलाल द्विवेदी का 'सूर-साहित्य' यह पुस्तकें ही प्रसिद्ध हैं। बा० शिखरचन्दजी की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली है। आपने अपने विशेष ढग व दृष्टि कोण से सूरदास की महानता पर विचार किया है। पुस्तक में यत्र तत्र नवीन सामग्री व लेखक की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यह पुस्तक 'सूरदास' का विशेष अध्ययन करने वालो को अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। प्रयत्न सराहनीय है। छपाई सुन्दर है'।

'जैन साहित्य', देहली।

महाकवि सूरदास की कविताओ के सम्बन्ध में यह पुस्तक लिखी गयी है। हिन्दी भाषा का बीज-वपनकाल, सूर के पहिले की राजनैतिक

अवस्था और धार्मिक परिस्थिति, वैष्णव धर्म और उसके सिद्धांत, अष्ट छाप के कवि और उनका प्रभाव इत्यादि विषयों की विवेचना करते हुए, जैन महोदय ने सूरदासजी के जीवन और उनके काव्य-ग्रन्थों पर अच्छा प्रकाश डाला है। भाषा और शैली की भी सुन्दर आलोचना की है। इसके अतिरिक्त विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि महाकवियों से भी सूर की तुलना की गई है। अन्त में सूरदास की कविता का सोदाहरण कलात्मक विवेचन है। पुस्तक की भाषा परिमार्जित और शैली सुन्दर है। सूर का गम्भीर दृष्टि से पाठ करने वाले लोग इस 'अध्ययन' के अध्ययन से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक उपयोगी और संग्रह करने योग्य है।

'सैनिक' आगरा।

हिन्दी में वात्सल्य रस के चित्रकार अमर कवि सूरदास पर एक विवेचनात्मक निबंध। इस १५६ पृष्ठ के निबन्ध में लेखक ने सूरकाल की सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक दशा के चित्रण से सूरसाहित्य के सौन्दर्य पर आलोचनात्मक विवेचन किया है। पुस्तक विद्यार्थियों के तो उपयोग की है ही, साथ ही उनके लिए भी काफी उपयुक्त है जो सूर-काव्य के अनन्य प्रेमी हैं।

'कहानी' काशी।

श्री नलिनी मोहन सान्याल के लिखे हुए 'भक्तशिरोमणि सूरदास' नामक ग्रंथ का परिचय अक्टूबर मास के साहित्य-सन्देश में दिया जा चुका है। सूरदास के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक काम की चीज है। यह पुस्तक प्रायः विद्यार्थियों के ही दृष्टिकोण से लिखी गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही सूर से पूर्व की राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन अच्छे ढग से कराया गया है। इस विवेचन म दो-एक बातें ऐसी हैं। जो अवश्य ही विवादास्पद हैं। लेखक महोदय लिखते हैं कि "इसी समय बौद्धों के २४ बुद्धों, जैनों के २४ तीर्थंकरों के समान २४ अवतारों की भी-कल्पना कर साम्य स्थापित कर लिया गया। यह नहीं कहा जा सकता कि तीनों धर्मों में

एक संख्या की पूर्ति एक संस्कृति और परम्परा का फल है अथवा अनुकरण का फल। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के यहां अवतारों की संख्या चौबीस में ही सीमित नहीं है। कहीं कहीं अड़तालीस अवतार भी माने गये हैं।

लेखक महोदय ने सूर-साहित्य में अवगाहन करने के लिये तीन स्तम्भों पर विशेष जोर दिया है–(१) विष्णु, वैष्णवधर्म एवं वल्लभाचार्य। (२) संगीत और (३) भक्ति। वैदिक साहित्य में विष्णु का विकास दिखलाते हुए लेखक ने बतलाया है कि पहिले शिव का अधिक महत्व था। पीछे से विष्णु का, जो कि सूर्य के अवतार माने जाते थे, महत्व हुआ। विष्णु के सम्बन्ध में लेखक महोदय वामनावतार की कथा का भी उल्लेख करते हैं। महाभारत में विष्णु और कृष्ण का ऐक्य हो जाता है किन्तु वे गोपालकृष्ण नहीं हैं। लेखक महोदय वल्लभ संप्रदाय के संबंध में कहते हैं कि गीता को ये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझ में वे गीता की अपेक्षा श्रीमद्भागवत को अधिक महत्व देते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टि मार्ग के सम्बन्ध में आपने बतलाया है कि ईश्वर के अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है (भोजनों द्वारा शरीर की पुष्टि नहीं है।) वल्लभ संप्रदाय के सम्बन्ध में आपका कथन है कि उस सम्प्रदाय ने दुःखाक्रान्त जनता के लिये बाम (Balm) का काम किया।

संगीत के सम्बन्ध में लेखक ने बहुत अच्छा विवेचन किया है और उसके अंग प्रत्यंगों पर भी प्रकाश डाला है। भक्ति और ज्ञान के संबंध में लेखक ने कुछ अच्छे विचार प्रकट किये हैं। "ज्ञान में ओज और तेज है। कदाचित् इसीलिए वह पुल्लिंग है। भक्ति में शान्ति है तन्मयता है, परमात्मा में एकीकरण की भावना है, एवं अनन्यता है, इसलिए कदाचित् भक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। उसमें पुरुषत्व का विकास है, तो इसमें स्त्रीत्व की कोमलता। ज्ञान विजय चाहता है, भक्ति पराजय। ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड को वश में करना चाहता है, भक्ति अपने अणु-अणु को उसमें व्याप्त देखना चाहती है।"

लेखक ने दास्य, सख्य आदि भक्ति के प्रकारों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। भक्ति में 'सूर' के सख्यभाव के ही ऊपर अधिक ज़ोर दिया है।

'सूर' की अन्य कवियों से तुलना करते हुए लेखक महोदय ने उन पर विद्यापति और कबीर का अधिक प्रभाव बतलाया है। यह हम मानने को तैयार हैं कि सूर विद्यापति से प्रभावित अवश्य हुए हैं किन्तु यह कहना कि 'सूर' में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नजर आता है विचारणीय है। विद्यापति और सूर ने यथार्थ चित्रण के नाम से बहुत कुछ कहा है, किन्तु सूर अपनी राधा को रस-शास्त्रों की नायिकाओं ही में परम्परा में अधिक नहीं लाये हैं। विद्यापति भावुक होते हुए भी साहित्यिक अधिक हैं। सूर की साहित्यिकता और शृंगार वर्णन भक्ति-भावना से ही प्रेरित मालूम पड़ते हैं।

कबीर और सूर के अक्खड़पन में जो समानता देखी गई है, वह बहुत जरूरी है। सूर का अक्खड़पन प्रेम का अक्खड़पन है और कबीर का खंडन मंडनात्मक है। सूर के दृष्टिकूट भी कबीर की उल्ट-बाँसियों के रूपान्तर नहीं है, क्योंकि सूर के दृष्टिकूट एक प्राचीन परम्परा के अनुकरण में हैं। महाभारत में भी हमको बहुत से कूट श्लोक मिलते हैं। कबीर की उल्ट-बाँसियो में भाव और विचार की गहनता है, सूर के दृष्टिकूटो में पाण्डित्य और साहित्यिकता अधिक है।

कतिपय मतभेदों के होते हुए भी पुस्तक बड़े अच्छे ढंग से लिखी गई है। शिखरचन्दजी की समालोचना शुष्क समालोचना नहीं, उसमें भावुकता है और भावुकता के साथ गम्भीर पैठ भी है। पुस्तक अत्यंत उपादेय और संग्रहणीय है।

'साहित्य-संदेश', आगरा।

सूर पर आलोचनात्मक साहित्य का अभी हमारे यहाँ अभाव है, सूर क्या, प्राचीन साहित्य पर एक तरह से समीक्षात्मक पुस्तक हमारे यहां है ही नहीं। यदि आचार्य शुक्लजी इस दिशा में अपने प्रयत्न न

उपस्थित करते तो हमें शून्य दृष्टि से ही प्राचीन साहित्य को देखना पड़ता। अब थोड़े दिनों से तुलसी की भांति सूर पर भी कुछ पुस्तकें स्वतन्त्र रूप से निकलने लगी हैं। उनमें से तीन पुस्तकें हमारे देखने में आई हैं——प्रथम श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा, द्वितीय श्रीनलिनीमोहन सन्याल द्वारा और तृतीय श्री शिखरचन्दजी द्वारा लिखी गई यह पुस्तक।

श्री शिखरचन्दजी की पुस्तक १६० पृष्ठों में समाप्त हुई है। सूर के सम्बन्ध में जितने भी प्रश्न उठ सकते हैं उनमें से अधिकांश पर लेखक ने विचार किया है। संगीत पर भी शास्त्रीय विवेचन कर दिया गया है पर सूर का उससे कितना सम्बन्ध है यह दृष्टिकोण नहीं रह पाया।

फिर भी यह पुस्तक विशारद आदि के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं।

सच तो यह है कि श्री नलिनीमोहन की शैली, श्री द्विवेदीजी की गम्भीरता एवं जैनजी की सामग्री-पूर्णता का सामञ्जस्य सूर के समालोचना-साहित्य के लिये अपेक्षित है।

'कमला', काशी।